स्व. श्रीमज्जैनाचार्य

पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के

व्याख्यानों में से

धर्म-व्याख्या

सम्पादक

श्री जैन हितेच्छु श्रावक-मंडल रतलाम की तरफ से

पं शंकरप्रसाद दीक्षित

प्रकाशक

मंत्री – श्री साधुमार्गी जैन

पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का

हितेच्छु श्रावक–मण्डल, रतलाम (म. प्र.)

वीर सम्वत् २४९४ विक्रम सम्वत् २०२४

मूल्य एक रुपया, पच्चीस पैसे

पंचम संस्करण

प्रकाशक व प्राप्तिस्थान
मंत्री, श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल,
रतलाम (म० प्र०)

पदाधिकारी

अध्यक्ष —श्री सेठानी आनन्दकुंवरबाई पीतलिया
उपाध्यक्ष—श्रीमान् सेठ हीरालाल जी नांदेचा
खजांची—श्रीमान् सेठ भागचंद जी गेलड़ा
मंत्री—श्रीमान् सुजानमल जी तलेरा
बी० ए०, साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ

मुद्रक :—
जैन आर्ट प्रेस
(श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित
रांगड़ी मोहल्ला, बीकानेर

प्राक्कथन

इस पुस्तक की पहली आवृत्ति सम्वत् १९८७ में छपी थी। प्रथमावृत्ति की समस्त प्रतियों को भीनासर निवासी श्रीमान् सेठ बहादुरमलजी बांठिया के सुपुत्र कुंवर तोलारामजी बांठिया ने अपनी स्वर्गीया मातेश्वरी की पुण्यस्मृति में बिना मूल्य वितरण कराई थीं। पहला संस्करण थोड़े ही दिनों में समाप्त हो गया, इससे दूसरा संस्करण निकलवाना पड़ा। दूसरे संस्करण की समस्त प्रतियों को बैंगलोर निवासी श्री० सेठ हीराचन्दजी धनराजजी कटारिया की अनुज-वधू श्रीमती भूरीबाई ने अपने स्वर्गीय पति की पुण्य-स्मृति में अर्द्ध-मूल्य में वितरण कराई। अर्थात् छपाई और कागज की आधी लागत देकर पुस्तक का मूल्य चार आने के बदले दो आने करवा दिया था। तीसरा संस्करण सैदापेठ (मद्रास) निवासी श्री कन्हैयालालजी वैद-मुथा की विधवा धर्मपत्नी श्री सूरजकुंवरबाई ने अपने स्वर्गीय पतिदेव की 'पुण्य-स्मृति' में उसी अर्द्ध-मूल्य दो आने में वितरण कराई। कुंवर तोलारामजी और श्रीमती भूरीबाई तथा श्री सूरजकुंवरबाई की अनुकरणीय उदारता के परिणाम-स्वरूप जनता ने इस पुस्तक से अत्यधिक लाभ उठाया और कुछ ही समय में तीसरा संस्करण भी समाप्त हो गया था, अतः सं० २००२ में चौथा संस्करण श्रीमान् सेठ श्रीचन्दजी सा. अब्बाणी तथा श्रीमान् लाल-चन्दजी अमरचन्दजी खींवेसरा नयानगर निवासी की उदारता से अर्द्ध मूल्य में जनता के हाथों में पहुंचाया था।

इस पुस्तक की मांग आज भी बनी हुई है अतः यह पंचम संस्करण छपवाया गया है।

प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ की तरह हम इस आवृत्ति के लिए भी यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि श्रीमज्जैना-

चार्य पूज्य श्री १००८ श्री जवाहरलालजी महाराज (जिनके चूरू के व्याख्यानों में से यह पुस्तक प्रकाशित हुई है) के व्याख्यान साधु-भाषा में और शास्त्र-सम्मत ही होते थे, लेकिन संग्राहक, सम्पादक और संशोधक से त्रुटि होना सम्भव है। अतः इस पुस्तक में यदि कोई त्रुटि दिखाई दे, तो पाठक महाशय सूचित करने की कृपा करें। साथ ही यह जाहिर कर देना भी आवश्यक है कि इस पुस्तक का गुजराती में अनुवाद श्रीयुत शान्तीलाल वनमाली सेठ ने किया था। जिसमें कुछ संशोधन, परिवर्द्धन एवं परिवर्तन किया गया है और नाम भी "धर्म-व्याख्या" के बदले "धर्म अने धर्म-नायक" रखा है। उस पुस्तक का किन्हीं महानुभाव ने पीछा हिन्दी में अनुवाद कराया है। सम्भव है कदाचित् उसमें रोचकता भी बढ़ी हो। परन्तु ऐसा करने से वक्ता के मूल शब्दों एवं किंचित् भावों में भी परिवर्तन होना सम्भव है। अतः हमने इसी मूल पुस्तक को संशोधन एवं परिवर्द्धन के साथ ही पंचम संस्करण में प्रकाशन उचित समझा, अतः प्रकाशित कर रहे हैं।

इस संस्करण में सहयोग देने वालों के भी आभारी हैं।

रतलाम
आसाढ़ी पूर्णिमा
सं० २०२४

भवदीय

आनन्दकुंवर पितलिया
प्रेसीडेन्ट

हीरालाल नांदेचा
वाइस प्रेसीडेन्ट

सुजानमल तलेरा B. A., सहित्यरत्न
मंत्री

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की
सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल
रतलाम (म. प्र.)

विषय-सूची

—० मण्डल से प्राप्य ०—

जवाहर साहित्य एवं लोकोपयोगी साहित्य

अहिंसा व्रत			
सकड़ाल पुत्र	००·२५	अनुकम्पा विचार प्र. भाग	१·२५
धर्मव्याख्या	००·३१	अनुकम्पा विचार द्वि. भाग	१·५०
सत्यव्रत		सम्यक्त्व स्वरूप	
हरिश्चन्द्र तारा	००·२५	राजकोट व्याख्यान	०·२५
अस्तेय व्रत		प्रथम भाग	
सुबाहुकुमार		राजकोट व्याख्यान	१·००
ब्रह्मचर्यव्रत		द्वितीय भाग	
सनाथ अनाथ		राजकोट व्याख्यान	१·२५
रुक्मणिविवाह	००·८७	तृतीय भाग	
राजमती	००·७५	प्रथम किरण	१·००
चंदनबाला	००·५६	तृतीय किरण	२·००
परिग्रह व्रत		चतुर्थ किरण	२·००
सुदर्शन सेठ	००·२५	ग्यारहवी किरण	१·५०
धन्नाजी	००·७५	बारहवीं किरण	०·७५
गुणव्रत	००७५	चौदहवी किरण	०·७५
मदनरेखा	००·३७	पंद्रहवी किरण	२·००
शिक्षाव्रत	००·७५	सोलहवी किरण	१·७५
भगवती प्रथम भाग	००·५०	उन्नीसवी किरण	१·५०
भगवती द्वितीय भाग		बीसवी किरण	२·००
भगवती तृतीय भाग	१·२५	इक्कीसवी किरण	२·००
भगवती चतुर्थ भाग	१·५०	बाइसवी किरण	१·२५
भगवती पंचम भाग	१·२५	तेईसवी किरण	२·००
भगवती छठा भाग	१·२५	चौबीसवी किरण	१·२५
	१·५०	पचीसवी किरण	२·५०
			१·८८

छबीसवी किरण	२·५०
सताइसवी किरण	२·२५
अट्ठाइसवी किरण	२·००
उनतीसवी किरण	२·००
तीसवीं किरण	१·५०
इकतीसवी किरण	१·६२
बत्तीसवी किरण	१·७५
तेतीसवी किरण	१·५०
जवाहर जीवन चरित्र	४·००
जवाहर विचार सार	२·००
जैन संस्कृति का राजमार्ग	२·००
हरिश्चन्द्र-तारा	१·५०
धर्मपाल बोधमाला	०·३०
सामायिक सूत्र	०·१५
प्रार्थना	०·१५
आत्मदर्शन	१·५०
शालिभद्र चरित्र	२·००
अंजना	१·५०
जैन सिद्धान्त परिचय	०·२०
„ „ प्रवेशिका प्रः भाग	१·००
„ „ „ द्वि. भाग	१·००
पांच समिति तीन गुप्ति का थोकड़ा	०·१५
रुक्मणी विवाह	२·२५
स्व. पू. श्रीलाल जी म. का जीवन चरित्र	१·००
जीवन संस्मरण	०·२५
तीर्थंकर चरित्र पहला भाग	०·६२
तीर्थंकर चरित्र द्वितीय भाग	०·८८
जैन दर्शन में श्वेताम्बर तेरहपंथ	०·५६
धर्ममूर्ति आनन्दकुमारी	१·५०
उववाई सूत्र मूल	०·२५
कर्म प्रकृति	०·१२
आत्म शुद्धिमार्ग	०·५०
सामायिक व्रत	०·२५
वैधव्य दीक्षा	०·१२
भक्तामर स्त्रोत भावार्थ सहित	०·२५
भारतीय बाल्य जीवन	०·३१
मानुषीया देवी	०·३७
स्त्री जीवन की आदर्श शिक्षाएँ	०·२५
वास्तविक शिक्षा	०·२५
श्रावक धर्म प्रतिपादक नियम	०·१२
अन्ध श्रद्धा	०·६२
आदर्श भ्राता	०·६२

धर्म-व्याख्या।

विषय-प्रवेश

किसी मकान के बनने से पहले, यह आवश्यक समझा जाता है कि उसकी नींव मजबूत हो। बड़ी-बड़ी कोठियां बनाने के लिये लोग, गहरी से गहरी और मजबूत नींव बनाते हैं। ऐसा न करें, तो उसके अधिक दिन ठहरने की आशा नहीं रहती।

ठीक यही बात धर्म के विषय में समझनी चाहिये। जब तक मनुष्य लौकिक धर्मों के पालन में दृढ़ नहीं होता, तब तक वह लोकोत्तर धर्मों का भी पालन ठीक-ठीक नहीं कर सकता। क्योंकि लौकिक-धर्म, जनता के आचरण को सुधारने वाले हैं। यदि किसी व्यक्ति का व्यवहार ही उत्तम न हो, तो वह सूत्र-चरित्र-धर्म का पालन कैसे कर सकता है।

इसी बात को दृष्टि में रख कर शास्त्रकारों ने दस प्रकार के धर्म बतलाये हैं। यही नहीं, बल्कि उन धर्मों को समुचित रूपेण पालन करवाने के लिये, दस-स्थवियों की भी व्यवस्था दी है।

ठाणाङ्गसूत्र के दसवें ठाणे में निम्न-लिखित दस प्रकार के धर्म बतलाये हैं:—

ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म, वृत्त-धर्म, कुल-धर्म, गण-धर्म, संघ-धर्म, सूत्र-धर्म, चारित्र-धर्म, अस्तिकाय-धर्म।

इन दसों प्रकार के धर्मों एवम् अन्यान्य नैतिक व धार्मिक-व्यवस्था करने वाले जिन दस प्रकार के स्थविरों की व्यवस्था शास्त्र

में बतलाई है, वे निम्नानुसार हैं—

ग्रामस्थविर, नगरस्थविर, राष्ट्रस्थविर, प्रशास्तास्थविर, कुलस्थविर, गणस्थविर, संघस्थविर, जातिस्थविर, सूत्रस्थविर, पर्याय स्थविर।

उपरोक्त दस प्रकार के धर्मों और दस ही प्रकार के स्थविरों की जो व्यवस्था शास्त्रकारों ने बतलाई है, उसकी विशेष व्याख्या आगे क्रमवार की जाती है।

—o:—

१ : ग्राम-धर्म

ग्राम-धर्म का आशय उस धर्म से है; जिसके पालन से ग्राम का नाश न हो। अपितु उसकी रक्षा हो।

ग्राम उसे कहते हैं, जिसमें जन-समूह एकत्रित होकर रहता है; किन्तु जिसकी आबादी एक निश्चित सीमा तक ही हो। इस सीमा के उल्लंघन करने पर वह ग्राम नहीं बल्कि नगर[१] कहा जाता है। ग्राम-धर्म, केवल ग्रामों के लिये ही है, नगरों के लिये तो नगर-धर्म है।

गांव में चोरी न होती हो, पारदारिकादिक (लम्पटी) न रहने पाते हों, विद्वान् मनुष्यों का अपमान न होता हो, पशु-वध की रोक होती हो, मुकदमेबाजी में गांव के लोग सम्पत्ति नष्ट न करते हों और एक स्थविर या पंचायत के अधीन सारा गांव ढङ्ग

---

१ वर्तमान में १०००००) एक लाख की आबादी वाले शहर को सिटी या नगर माना जाता है।

से शासित हो, इसी का नाम ग्राम-धर्म है।

यद्यपि यह धर्म मोक्ष के लिये पर्याप्त नहीं है, किन्तु जिस धर्म से मोक्ष मिलता है, उस धर्म का पाया अवश्य है। यदि ग्राम-धर्म व्यवस्थित न हो और सारे गांव में चोर ही चोर बसते हों तो वहां जाकर साधु क्या करेगा ? यदि भूल कर गया भी, तो चोरों का अन्न पेट में जाने के कारण, उसकी बुद्धि पर भी बुरा असर पड़े बिना न रहेगा। इसके अतिरिक्त, जिस गांव में सब बुरे आदमी ही रहते हों, वहां कोई भला आदमी स्थायी कैसे रह सकता है ? और जब तक प्रत्येक ग्राम में कम से कम एक भी सन्मार्ग-प्रदर्शक न हो, तब तक ग्राम-वासियों की, धर्म की ओर रुचि कैसे हो सकती है ? जहां ग्राम-धर्म नहीं है, वहां सभ्यता भी नहीं हो सकती। इसीलिए भगवान ने साधु को अनार्य-देश में जाने को मना किया है। क्योंकि वहां ग्राम-धर्म नहीं है, अतः सभ्यता भी नहीं है।

प्रत्येक ग्राम में एक स्थविर (मुखिया) या सन्मार्ग-प्रदर्शक न रहता हो, तब तक लोगों को धर्माधर्म का ज्ञान कौन करावे, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। जब तक ऐसा एक भी मनुष्य गांव में न हो, तब तक बड़े से बड़ा साधु भी वहां जाकर लोगों को धर्मोपदेश नहीं दे सकता।

केशी श्रमण, यद्यपि चार ज्ञान के स्वामी थे, किन्तु 'चित-प्रधान' के समान सन्मार्ग-प्रदर्शक हुए बिना, राजा-परदेशी को सुधारने का काम नहीं हो सकता था। आजकल तो यह दशा है, कि लोग मुनियों के पास जाकर उनकी तारीफ खूब कर आते हैं, कविता गा कर या व्याख्यान देकर उनकी स्तुति भी कर डालते हैं, किन्तु जब 'चित प्रधान' के समान काम करने की आवश्यकता होती है, तब दूर भागते हैं। ऐसी अवस्था में सुधार हो तो कैसे ?

जहां ग्राम-धर्म जागृत होता है, वहां धर्म की नींव सिद्ध हो जाती है। या यों कहिये कि जैसे किसान को अनाज बोने के लिये भूमि तैयार हो जाती है।

किसान, भूमि के तैयार होने पर मिट्टी को तो खाता ही नहीं है, उसमें अनाज बोकर अन्यान्य मेहनत करता है, तब उसे फल मिलता है। यदि कोई कहे, कि गेहूँ बोने के लिये भूमि तैयार करने की क्या आवश्यकता है ? गेहूँ बो दिये और काट लिये, तो क्या कोई बुद्धिमान् किसान इस बात को मान सकता है ? वह कहेगा, कि कृषि की नींव खेत की जुताई है। जब तक खेत तैयार न हो जाय, गेहूँ कभी अच्छे हो ही नहीं सकते। इसी प्रकार धर्म की नींव ग्राम-धर्म है। जब तक ग्राम-धर्म का समुचित-रूपेण पालन न हो, तब तक मोक्षदाता सूत्र-चरित्र धर्म का पालन होने तथा इनके टिके रहने में बड़ी कठिनता आने की सम्भावना है।

प्रकरण का सार:—गाँव में रहने वालों को ग्राम-धर्म का पालन करते हुए सादगी-पूर्ण जीवन बिताना चाहिये और सदाचार का पालन करते हुये गांव के लोगों के समक्ष अपने सदाचार का आदर्श रखना चाहिये जिससे गांव के सभी लोग सन्मार्ग को अपनावें।

२ : नगर-धर्म

यद्यपि शास्त्रकारों ने ग्राम-धर्म और नगर-धर्म दोनों की पृथक्-पृथक् व्याख्या की है, किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि ये दोनों बिल्कुल अलग-अलग धर्म हैं। नगर-धर्म में पूरे ग्राम-धर्म का समावेश होता है। ग्राम-धर्म में जो-जो बातें बतलाई गई हैं, वे सब तो नगर-धर्म में होती ही हैं, किन्तु कुछ विशेष बातें नगर-धर्म में अधिक होती हैं।

ग्राम और नगर, परम्परा आधाराधेय भाव से स्थित हैं। अर्थात् बिना ग्राम के नगर का जीवन और बिना नगर के ग्राम की रक्षा नहीं है। गांव वालों में तो आज फिर भी कुछ धर्म-जीवन शेष है, किन्तु नगर वालों ने तो अपना धर्म-जीवन नष्ट सा कर रक्खा है। ग्राम-धर्म को अपना आधार न मान कर आज के नागरिक, नाटक, सिनेमा, नाच-रंग और फैशन में अपने समय, शक्ति और द्रव्य का दुरुपयोग करते हैं; परन्तु यह नहीं देखते कि हमारा धर्म क्या है।

ग्राम-धर्म और नगर-धर्म का उसी तरह सम्बन्ध है, जैसे शरीर और दिमाग का। अर्थात् यदि ग्रामीण शरीर के समान हैं, तो नागरिक मस्तिष्क के समान। मस्तक यद्यपि शरीर से ऊंचा है, किन्तु शरीर का सारा काम उसी से होता है। यदि योगायोग से मस्तक पागल हो उठता है, तो वह अपने साथ-साथ सारे शरीर को भी ले डूबता है।

आज नागरिकों की यही दशा हो रही है। उन्हें अपनी

स्वतः की रक्षा का ध्यान नहीं है, तो वे ग्रामीणों की रक्षा क्या करेंगे ? जिस प्रकार मस्तक के बिगड़ने से शरीर की हानि होती है, उसी तरह आज नागरिकों के बिगड़ने से ग्राम-धर्म भी नष्ट होता जा रहा है । अपना धर्म समझ कर उसे पालना और अपने आश्रित ग्राम-धर्म की भी रक्षा करना, नागरिकों का कर्तव्य है ।

आप लोग मुझे आचार्य कहते हैं और मैं एक तरफ बैठ जाऊं, व्याख्यान न दूं, तो आप क्या कहेंगे ? यही न, कि कोई दूसरे छोटे सन्त बैठ जायं, तो काम चल सकता है, परन्तु आपके बैठने से काम नहीं चल सकता ! आपका यह कहना ठीक है, क्योंकि आप लोगों ने मुझे अपने धर्म का अग्रणी नियत किया है । अतः यह आवश्यक है, कि मैं आप लोगों को उपदेश देकर अपने कर्तव्य का पालन करूं । ठीक इसी प्रकार ग्रामों और नगरों का सम्वन्ध है । जैसे श्रावकों के धर्म की रक्षा करना आचार्य का कर्तव्य है, उसी प्रकार नगरों का कर्तव्य है कि वे अपने आश्रित ग्रामों की रक्षा करें । जिस प्रकार आचार्य के बेपरवाह हो जाने पर श्रावकों और साधुओं का कल्याण नहीं होता, उसी प्रकार नगरों के वेपरवाह हो जाने पर ग्रामों का कल्याण कैसे सम्भव है ?

आज राजनीति में जितने अगुआ हैं, उनमें अधिकांश नागरिक हैं । इसका मतलब यह है कि आज राजनीति नगरों के हाथ में है । किन्तु देखा जाता है कि जो नागरिक, एसेम्बली या अन्यान्य राजकीय सभाओं के मेम्बर चुने जाते हैं, उनमें से अधिकांश, पूर्ण-रूप से अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर पाते ।

आज प्रजा की ओर से जो मेम्बर एसेम्वली में जाते हैं, उनमें से कई एक बैठे-बैठे देखा करते हैं और प्रजा के नाश के लिये कड़े से कड़े कानून वन जाते हैं । राजा और अन्य वड़े २ लोग, अपने मतलव की वात पेश करके अपनी वाक्पटुता से इन प्रजा के मेम्वरों को कुछ समझा देते हैं और मत दिला कर अपने-

अपने पक्ष में प्रस्ताव पास करा लेते हैं। ऐसे प्रजा-नाशक कानूनों के बनाने के समय, उसका विरोध करना प्रजा की ओर से चुने गये मेम्बरों का कर्तव्य है, किन्तु वे लोग नगर-धर्म पर ध्यान न देकर, अपने कर्तव्य से गिर जाते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि 'ऐसे बिलों का विरोध करके, यदि कोई मनुष्य उन्हें रुकवा दे, तो उससे तो राजा का विरोध होगा और राजा के विरुद्ध काम करने की शास्त्रों में मनाई है।'

ऐसा कहने वाले शास्त्र के मर्म को नहीं जानते। शास्त्र में एक जगह आया है कि—

'विरुद्ध रज्जाइ कम्मे'

[उपासक दशांग सूत्र]

अर्थात्—राज्य के विरुद्ध कार्य न करना चाहिये।

शास्त्र तो कहता है कि राज्य के विरुद्ध कार्य न करना चाहिये और लोगों ने इसका यह अर्थ लगाया है कि राजा के विरुद्ध कोई कार्य न करना चाहिये।

राज्य, देश की सु-व्यवस्था को ही कहते है। परन्तु राजा की अनीति के विरुद्ध कार्य करते को या आवाज उठाने को जैन-शास्त्र कहीं नहीं रोकता।

आज, शराब, गांजा, भंग आदि के प्रचार की ठेकेदार सरकार हो रही है। यदि सरकार की आबकारी की आय कम हो और वह एक सरक्यूलर निकाल दे कि "प्रत्येक प्रजा-जन को एक-एक ग्लास शराब रोज पीनी चाहिये ताकि राज्य के आबकारी विभाग की आय बढ़ जाय' तो क्या इस आज्ञा का पालन आप लोग करेंगे ?

'नहीं'

और यदि यह सोचकर कि राजा का विरोध करना शास्त्र रोकता है, कोई मनुष्य शराब पीने लगे, तो क्या उसका धर्म बाकी रहेगा ?

'नहीं'

ऐसी अवस्था में, राजा की इस अनुचित आज्ञा का विरोध करना प्रजा का कर्तव्य हो जाता है। इसी का ही नहीं; बल्कि उन सब कानूनों का विरोध करना भी प्रजा का कर्तव्य हो जाता है, जिनके पास हो जाने के कारण प्रजा की हानि होती हो।

आप लोग, यदि जैन-शास्त्र की इस आज्ञा का उपरोक्त अर्थ समझते होते, तो आज जो लोग जैन-धर्म को कायर कहते हैं, वे कदापि ऐसा कहने का साहस नहीं करते।

अहिंसावादी कायर नहीं होता है, बल्कि वीर होता है। एक ही अहिंसावादी यदि खड़ा हो जाय; तो विना हिंसा के ही बड़ी २ पाशविक शक्तियाँ उसे देख कर दूर रहेंगी। अस्तु।

नागरिकों ने ही आज फैशन और जेवरों की वृद्धि की है। इन्हीं लोगों का अनुकरण करके बेचारे ग्रामीण भी अपनी आय का अधिकांश, फैशन में उड़ा देते हैं। फलतः विलासिता की दिनों-दिन वृद्धि होती जा रही है और जनता की आय का इस तरफ दुरुपयोग हो जाने के कारण, आज मनुष्यों को जीवन-दायक पदार्थ जैसे—घृत, दुग्धादि का मिलना कठिन हो गया है।

संसार में बैठे हुए प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह समष्टि को अपनी नजर में रख कर उसे हानि पहुंचे ऐसा कोई बुरा काम न करे। जो मनुष्य समष्टि को अपनी दृष्टि में रख कर कार्य नहीं करता; वह नीतिज्ञ नहीं कहा जा सकता।

मानव स्वभाव सदैव अनुकरणशील है। बच्चा, जिस प्रकार अपने घर वालों का अनुकरण करता है, उसी प्रकार अल्प-शिक्षित

ग्रामीण, नगर के शिक्षित–समाज का अनुकरण करते हैं। किन्तु जिस प्रकार घर में कोई मनुष्य अच्छा या बुरा काम करता है तो बच्चे पर उसका असर हुए बिना नहीं रहता; उसी प्रकार नागरिकों के प्रत्येक अच्छे-बुरे कार्य का असर, ग्रामीणों पर पड़े बिना नहीं रहता।

यदि नगर निवासी ग्राम-निवासियों को दृष्टि में रख कर अपने धर्म का समुचित-रूप से पालन करें, तो राष्ट्र का बहुत अधिक हित होना सम्भव है।

प्रकरण का सारः—नगर-वासियों को केवल अपने स्वार्थ का ही ध्यान न रखते हुए, जिन लोगों से नगर-वासियों का निर्वाह होता है, उन ग्रामीण लोगों का हित हो, इसका अधिक से अधिक लक्ष्य रखकर नगर-धर्म का पालन करना चाहिये और उनको साथ रखकर देश-हित के कार्य में आगे बढ़ना चाहिये।

—: ० :—

३ : राष्ट्र-धर्म

जब ग्रामों में ग्राम-धर्म और नगरों में नगर-धर्म का समुचित-रूप से पालन होता है, तब राष्ट्र-धर्म की उत्पत्ति होती है। ग्राम में, यदि प्रामाणिक-मनुष्यों का निवास होगा, तो शहर वालों को भी प्रामाणिक बनना पड़ेगा। और यदि शहर के निवासी प्रामा-

णिक हुए, तो उसका प्रभाव समस्त राष्ट्र पर पड़ेगा। यदि नगर-निवासी अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन न करें, तो सारे देश का नाश हो जाता है।

भारतवर्ष को डुबाने का कलंक, आज ग्रामीणों के सिर नहीं बल्कि नागरिकों के सिर लगाया जाता है और यह है भी सत्य। जब, भारत का पतन हुआ है, तब के इतिहास के पन्ने उलटने पर विदित होता है, कि कुछ नागरिकों ने, अपना नागरिक-धर्म नहीं निभाया, फलतः राष्ट्र-धर्म नष्ट हो गया। जयचन्द के जमाने से लगा कर, मीरजाफर तथा उसके बाद आज तक यही दशा है। बंगाल में, जिस समय ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी के कार्यकर्त्ता अपनी कुटिलता से देश को तबाह कर रहे थे और नमक के समान साधारण चीज का ठेका लेकर ऐसा अत्याचार कर रहे थे कि पाँच सेर नमक भी यदि किसी के घर में निकल जाता था, तो उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी, और अपने व्यापार की वृद्धि तथा अपने स्वार्थ-साधन के लिए प्रसिद्ध-प्रसिद्ध जुलाहों में से बहुतों के अंगूठे कटवा लिये गये थे। तब इन अत्याचारों का प्रतिकार करना, एक प्रकार से असम्भव-सा हो गया था। इसका कारण यह था, कि जगत्-सेठ अमीचन्द तथा महाराज नन्दकुमार के समान प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नागरिक भी केवल अपने स्वार्थ-साधन के लिये कम्पनी के कार्य-कर्त्ताओं का साथ देकर देश-द्रोह कर रहे थे।

भारत के ही नहीं, किसी भी राष्ट्र के पतन का कारण यदि आप ढूंढेंगे, तो विदित होगा कि उस राष्ट्र के नागरिकों का अपना नगर-धर्म न पालना ही देश के पतन का कारण हुआ है। आज भी बत्तीस करोड़ भारतीयों पर, थोड़े से विदेशी शासन करते हैं! इसका कारण यही है कि बहुत से नागरिक, अपने नगर-धर्म का पालन बिल्कुल नहीं करते; या यों कहिये कि देश-द्रोह करते हैं। जब तक सब ग्रामीण ग्राम-धर्म और सब नागरिक नगर-धर्म

का पालन करने की आदत न डालेंगे, तब तक राष्ट्र-धर्म की उन्नति होना असम्भव है । १

'राष्ट्र' शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रों में बतलाया गया है, कि प्राकृतिक सीमा से सीमित, तथा एक ही जाति एवं सभ्यता के मनुष्य जहां रहते हों, उस देश का नाम राष्ट्र है । या यों कहिये, कि बहुत से ग्रामों और नगरों के समूह को राष्ट्र कहते हैं ।

राष्ट्र-धर्म वह है, जिससे राष्ट्र सुव्यवस्थित रहे; राष्ट्र की उन्नति हो, मानव-समाज अपने-अपने धर्म का पालन करना सीखे, राष्ट्र की सम्पत्ति सुरक्षित रहे, शान्ति फैले, प्रजा सुखी हो, राष्ट्र की प्रसिद्धि हो और कोई अत्याचारी, राष्ट्र के किसी अंग पर अत्याचार न कर सके ।

जिस कार्य का फल इसके विरुद्ध निकलता हो, वह राष्ट्र-धर्म नहीं है ।

राष्ट्र-धर्म का पालन करने की जिम्मेदारी, राष्ट्र के निवासी प्रत्येक व्यक्ति पर है ! एक ही मनुष्य के किये हुए अच्छे या बुरे काम से, राष्ट्र सुविख्यात या बदनाम हो सकता है । जैसे एक भारतीय, यूरोप की एक अद्वितीय लायब्रेरी में गया था । उस लायब्रेरी में कई दिन तक जाकर उन्होंने अपने विषय के ग्रन्थों का अध्ययन किया । एक दिन, एक ग्रन्थ में से उन्होंने एक बहुत कीमती चित्र चुरा लिया । योगा-योग से लायब्रेरियन को इसका पता लगा और बात प्रमाणित भी हो गई । इसका नतीजा यह

---

१ यह अंग्रेजों के शासन काल की बात है आज देश आजाद है पर अंग्रेजी विचार धारा ने देश को तबाह कर रखा है । अंग्रेज गये पर अंग्रेजी सभ्यता के अंकुर बो गये जो देश के लिये हानिकारक हैं ।

हुआ कि "उस लायब्रेरी में भविष्य में कोई हिन्दुस्तानी नहीं जा सकता" यह नियम बना दिया गया। भारत के सैकड़ों विद्यार्थी यूरोप जाकर, उस लायब्रेरी के ग्रन्थों से फायदा उठाते थे, किन्तु एक ही मनुष्य के राष्ट्र-धर्म न पालने से, राष्ट्र को यह हानि हुई कि भविष्य में कोई भारतीय उस लायब्रेरी के अमूल्य-संग्रह से लाभ नहीं उठा सकता। यहीं तक नहीं, बल्कि पत्रों में इस विषय की चर्चा करके उन लोगों ने यह बतलाने का भी प्रयत्न किया, कि भारतीय मनुष्य बेईमान होते हैं। यह हानि और उसके साथ-साथ बदनामी, भारतवर्ष यानी समस्त राष्ट्र को इसलिये सहनी पड़ी, कि उसके एक आदमी ने यूरोप जाकर, बेईमानी की थी। इसके विरुद्ध, विश्व-कवि रविन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ० जगदीशचन्द्र वसु, विवेकानन्द या गांधीजी के समान एक ही मनुष्य यूरोप में जाकर, राष्ट्र-धर्म का पालन करते हुये, अपने उन्नत व्यक्तित्व का परिचय देकर भारतवर्ष का सिर ऊंचा किया था इसीलिये कहा गया है कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति पर राष्ट्र के उत्थान-विकास का आधार है।

कुछ लोग कहते हैं, कि आत्म-कल्याण करने वाले को ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म से क्या प्रयोजन है? ऐसा कहने वालों का यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि साधुओं को भी रोटी खाने की जरूरत तो पड़ती है। यदि ग्राम-वासी अधर्मी या चोर हों, पतित या गुलाम हों, तो उनका अन्न खाने वाले, धर्मात्मा या स्वतन्त्र विचार रखने वाले महात्मा कैसे बन सकते हैं? क्योंकि जैसे विचार रखने वालों का अन्न मनुष्य खाता है, प्रायः वैसे ही विचार उसके भी हो जाते हैं। जब तक गृहस्थियों का जीवन पवित्र न होगा, तब तक साधुओं का जीवन पवित्र रहना बहुत ही कठिन है। गृहस्थी यदि अपने धर्म-पालन में संलग्न हों, तो साधुओं का संयम भी पवित्र रहेगा, यह ध्रुव-सत्य है। शास्त्रकार ने दश-

वैकालिक के पहले अध्याय की पहली गाथा की टीका में, नीतिमान पुरुष का न्याय से उपार्जित अन्न ही साधु के लिये ग्राह्य वताया है।

वास्तव में धर्म उन्हीं का है, जिनका अपना स्वतन्त्र राष्ट्र हो। आज देखते-देखते ईसाई और मुसलमानों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। भारत में सात करोड़ से भी अधिक मुसलमान सुने जाते हैं। ये कहीं अरब से तो आये नहीं, परन्तु भारत पर उनका आधिपत्य होने से उनकी वृद्धि हो गई थी। दो करोड़ से ज्यादा भारतीय-ईसाई आज भारतवर्ष में मौजूद हैं। ये लोग, यूरोप या अमेरिका से नहीं आये हैं, भारतवर्ष में पैदा होने पर भी भारत पर ईसाइयों का आधिपत्य होने से इन्हें ईसाई वन जाना पड़ा। सुना जाता है कि इंग्लैण्ड के वादशाही तख्त पर वही राजकुमार वैठ सकता है, जो प्रोटेस्टेण्ट (ईसाई धर्म की एक सम्प्रदाय) ईसाई हो। रोमन-कैथोलिक-धर्म का मानने वाला, कभी वहाँ का वादशाह नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि राष्ट्र उन लोगों का है, वे जो चाहते हैं, वही होता है। भारतवर्ष में भी यही दशा सुनी जाती है। १

जव तक, राष्ट्र का प्रत्येक मनुष्य, राष्ट्र-धर्म का ठीक-ठीक पालन नहीं करता, तव तक सूत्रचरित्र-धर्म सदैव खतरे में ही रहता है। क्योंकि राष्ट्र-धर्म आधार और सूत्र-चारित्र-धर्म आधेय है। आधार के नष्ट हो जाने पर आधेय, भी पात्र बिन घृत की तरह नष्ट हो जाता है।

---

१ अंग्रेजों के युग में भारतवर्ष की राज्य-व्यवस्था में खर्च की एक मद थी, "ईसाई-धर्म की व्यवस्था।" इसमें भारतवर्ष की ही पैदा का ३२४२००० रुपया प्रति वर्ष खर्च किया जाता था। किन्तु यह एक ऐसा विशेष व्यय करार दे दिया गया था कि हमारे देश की लेजिस्लेटिव-एसेम्वली इस खर्च पर अपना कोई प्रभाव ही नहीं डाल सकती थी।

एक नाव, मनुष्यों से भरी जा रही है। एक मनुष्य, उसमें से एक आदमी को उठाकर नदी में फैंकता है और दूसरा मनुष्य एक तेज हथियार से नाव में छेद कर रहा है। किसी बुद्धिमान पुरुष से पूछा जाय, कि इन दोनों में से तुम पहले किसे रोकोगे ? तो वह उत्तर देगा, कि नाव का छेद करने वाले मनुष्य को।

कोई कहे, कि लकड़ी की नाव फोड़ने वाले को पहले क्यों रोका ? जीवित-मनुष्य को नदी में फैंकने वाले को क्यों नहीं रोका ? तो यह कहने वाले को सोचना चाहिए, कि यदि नाव में मनुष्य न बैठे होते और वह कहीं किनारे पर पड़ी होती, उस समय कोई उसे फोड़ता, तो यह कथन उचित भी था। किन्तु जब उसमें मनुष्य बैठे हैं और वह बीच-नदी में चल रही है, तब यदि उसमें छेद हो जायगा, तो जितने मनुष्य उसमें बैठे हैं, वे सब के सब डूब जायेंगे। किन्तु ठीक छेद करते समय यदि प्रत्येक मनुष्य आत्म-रक्षा का विचार करने लगे और अन्य मनुष्यों की चिन्ता न करे, तो क्या उन्हें कोई अच्छे आदमी कह सकता है ?

"कदापि नहीं।"

यही बात, जो लोग राष्ट्र की रक्षा करना बुरा बतला कर केवल व्यक्ति की रक्षा करना चाहते हैं, उनकी समझनी चाहिये। संसार में बैठ कर सारे काम तो करते हैं, किन्तु जहाँ कठिन-धर्म के पालन का प्रश्न उपस्थित होता है, वहाँ कह देते हैं कि हमें इससे क्या मतलब ? ऐसा कहकर राष्ट्र के उपकार से विमुख हो जाते हैं।

केवलज्ञान हो जाने के पश्चात् भी, भगवान् महावीर, समष्टि के कल्याण की इच्छा से उपदेश देते थे। जब केवलियों की भी यह दशा है तो, साधारण संसारी मनुष्य का संसार में बैठे हुये यह कहना कि "हमें राष्ट्र से क्या मतलब ?" कितनी भारी कृत-

बनता है।

डूबते हुए को बचा लेना धर्म है, यह समझते हुये भी कई लोग, राष्ट्र की रक्षा के काम से कोसों दूर रहते हैं। इसका कारण यही है, कि उन्हें राष्ट्र-धर्म का महत्त्व ही मालूम नहीं है। एक कानून के बनने से लाखों मनुष्य मरते और बचते हैं, किन्तु कुछ लोग धारा सभा के मेम्बर होकर भी, उस पर ध्यान नहीं देते, कि यह कानून हमारे देशवासियों के लिये लाभ-प्रद है, या हानि-प्रद। वे इस बात को नहीं समझते कि इस कानून के बन जाने से, जिस देश में मैं बसता हूँ, उसी का अपमान हो रहा है। वे तो केवल अपने मेम्बर-पद या अपनी उपाधियों की रक्षा करने में लगे रहते हैं।

किसी स्त्री के पुत्र और पति बैठे हों और कोई अन्य मनुष्य उस स्त्री का अपमान कर रहा हो, ऐसे समय में वे पति और पुत्र उस अपमान की ओर ध्यान न देकर, यदि अपनी मौज में ही लगे हों, तो संसार उन्हें अच्छा कहेगा ?

"हर्गिज नहीं।"

तो यह भारत आप लोगों की मातृ-भूमि है, आपका देश है, आप इसमें उत्पन्न हुए हैं और इसके किसी भाग के मालिक बने हुए हैं, अतः यह आप सब की मातृ-भूमि है। किन्तु यदि तुम्हारे ही सम्मुख तुम्हारी मातृ-भूमि की वेइज्जती हो रही हो अर्थात् ऐसे कानून बनें, जिनसे तुम्हारे धर्म, तुम्हारी स्वतन्त्रता अथवा देश की इज्जत में बाधा पहुंचती हो और तुम अपने मौज-मजे में लगे रह कर उनको न देखो, तो क्या यह तुम्हारा मनुष्यत्व है ?

"नहीं।"

राष्ट्र की रक्षा में सब की रक्षा और राष्ट्र के नाश में सब

का नाश है । शास्त्रों के देखने से यह बात प्रकट है कि राष्ट्र-ध
के बिना सूत्र-चरित्र-धर्म टिक ही नहीं सकता । इस बात का उदा-
हरण जैन-शास्त्रों से ही दिया जाता है ।

भगवान् ऋषभदेव ने जन्म लेकर ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और
राष्ट्र-धर्म की स्थापना की । उन्होंने अपनी आयु के २० भाग
कुंवर-पद में व्यतीत किये थे । ६३ भाग राष्ट्र के सुधारने में
लगाये थे और पिछला एक भाग सूत्र-चारित्र-धर्म के प्रचार में
लगाया था । इससे सिद्ध है कि यदि राष्ट्र-धर्म न होता, तो सूत्र-
चारित्र-धर्म न फैलता । इसके अतिरिक्त, जम्बू द्वीप-पन्नत्ती सूत्र
कहा है कि पहले सूत्र-चारित्र-धर्म का नाश होगा, फिर राष्ट्र-धर्म
का नाश होगा । इससे भी प्रकट है, कि जब तक सूत्र-चारित्र-धर्म
है, तब तक राष्ट्र-धर्म का होना आवश्यक है । क्योंकि सूत्र-चारित्र
धर्म का प्रचार करने के पहले, भगवान् ऋषभदेवजी ने राष्ट्र-धर्म
फैलाया था और उपरोक्त सूत्र के अनुसार, सूत्र-चारित्र-धर्म के नाश
होने के बाद तक राष्ट्र-धर्म रहेगा अर्थात् सूत्र-चारित्र-धर्म के जन्म
के पहले उत्पन्न हुआ और नाश के अन्त तक राष्ट्र-धर्म रहेगा ।

कोई मनुष्य यदि यह कहे, कि हमें राष्ट्र-धर्म से क्या मत-
लब है ? तो उससे पूछना चाहिये कि सूत्र-चारित्र-धर्म से तो
आपको मतलब है या नहीं ? यदि है, तो सूत्र-चारित्र-धर्म तो बिना
राष्ट्र-धर्म के टिक नहीं सकते, अतः यदि आपको सूत्र-चारित्र-धर्म की
आवश्यकता है, तो राष्ट्र-धर्म का निषेध कदापि नहीं कर सकते ।
ठाणाङ्ग-सूत्र के पांचवें ठाणे में कहा है:—

धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्साठाणा,
पं० तं०—छक्काए, गणे, राया, गिहवती, सरीरं ।

अर्थात्—सूत्र-चारित्र-धर्म को जिसने स्वीकार किया है, उसको
भी पांच वस्तुओं का आधार है । वे ये हैं छःकाय, गच्छ
देने वाला और शरीर ।

इसका यह स्पष्ट अर्थ है, कि इन पाँच का आधार पाये विना सूत्र-चारित्र-धर्म टिक नहीं सकता। यहाँ, राजा शब्द से राज्य या राष्ट्र आशय है। यदि राष्ट्रीय-व्यवस्था यानी राज्य-प्रबन्ध न हो, तो चोरी आदि कुकर्म फैलेंगे और इनके फैलने पर सूत्र-चारित्र-धर्म ठहर नहीं सकते। लोग अपनी रक्षा के लिये शस्त्रादि रखते हैं, उनका भी बिना राष्ट्र-धर्म यानि राष्ट्र की समुचित व्यवस्था के दुष्टों से संरक्षण नहीं होता है, तो जो साधु लोग किसी को मारने के लिये एक लकड़ी भी नहीं रखते हैं, क्या दुष्ट लोगों के मारे वे संसार में शान्ति-पूर्वक धर्म-पालन कर सकेंगे? इसीलिये, ठाणांग सूत्र के पांचवें ठाणे में, राज्य को धर्म का रक्षक माना गया है।

शास्त्रकारों ने, इसीलिये राष्ट्र-धर्म की आवश्यकता बतलाई है। राष्ट्रधर्म, सूत्र-चारित्र-धर्म का रक्षक है। जो लोग, धर्म की एक ओर से तो रक्षा करें और दूसरी ओर से नाश होने दें, तो क्या उनका धर्म ठहर सकेगा?

'नहीं।'

केवल सूत्र-चारित्र-धर्म को मानना और राष्ट्र-धर्म को न मानना वैसा ही है, जैसे मकान की नींव खोद कर, या वृक्ष की जड़ काट कर, उसके सुरक्षित रहने की आशा करना। सूत्र-चारित्र-धर्म, मकान या वृक्ष के फल के समान हैं और राष्ट्र-धर्म मकान की नींव या वृक्ष की जड़ के समान। जो लोग, इन ग्राम, नगर और राष्ट्र धर्म को एकान्त पाप बतला कर, इनकी जड़ काटते हैं, वे सूत्रचारित्र-धर्म की भी जड़ काटने वाले हैं।

आज, बहुत से लोग, बात को सुन कर "तथ्य" कह देना जानते हैं, परन्तु यह कभी नहीं सोचते, कि इनकी बात का दूसरे की बात से मिलान तो करें, या शास्त्र में क्या लिखा है, यह तो देखें। बल्कि कुछ लोगों की ऐसी संकुचित मनोवृत्तियाँ हो रही हैं, कि

दूसरे की वात सुनने में ही मिथ्यात्व लग जाने का भय रहता है।१ जैसे, कैसी-श्रमण ने चित-प्रधान से कहा था, कि परदेशी राजा जब किसी की सुनता भी नहीं है, तो हम उसे उपदेश देकर सन्मार्ग पर कैसे लावें ? ठीक यही दशा आज के कुछ लोगों की हो रही है। किन्तु अब वह जमाना नहीं रहा, अब जागृति का समय है। किसी की वात को बिना शास्त्र देखे और बिना विचार किये मान लेने से आगे पश्चात्ताप करना पड़ेगा। यही नहीं, ऐसे विचार रखने से भविष्य में अकल्याण होने की सम्भावना रहती है और ऐसे विचार रखने वाले एवं आचरण करने वाले श्रावक, जैन-धर्म और जैन-शास्त्र की भी निन्दा करवाते हैं। इसीलिये हम कहते हैं, कि जैन-धर्म और जैन-शास्त्र को लजाओ मत। प्रत्येक वात को बुद्धि से विचारो, दूसरे की सुनो और शास्त्र में भी देखो। केवल अन्ध-विश्वास के सहारे, किसी वात को पकड़ रखना उचित नहीं है।

आज, दूसरे लोग जैनियों की हँसी करते हैं। इसमें जैन-शास्त्र का दोष नहीं है। शास्त्र तो स्पष्ट कह रहे हैं, कि राष्ट्र-धर्म भी धर्म का एक अङ्ग है। यह दोष तो समझने और समझाने वाले का है। समझने और समझाने वालों की कमी से, आचरण में आना और भी मुश्किल हो गया है। यही कारण है, कि लोग जैन-धर्म को संकुचित तथा अव्यवहारिक-धर्म कह कर उसकी खिल्ली उड़ाते हैं।

राष्ट्र-धर्म के समझाने में, ऊपर भगवान् ऋषभदेव का उदाहरण इसलिये दिया है, कि आप लोग उनके कामों की अवहेलना न

---

१ तेरहपन्थी-सम्प्रदाय के साधु, अपने श्रावकों को उपदेश देते हैं कि यदि तुम बाईस-सम्प्रदाय के पूज्यजी का व्याख्यान सुनने जाओगे, तो तुम्हें मिथ्यात्व लग जावेगा। यहीं तक नहीं, वे अपने श्रावक-श्राविकाओं को इसके लिये सौगन्द भी दिलवाते हैं। कैसी मानसिक दुर्बलता है!

—सम्पादक।

कर सकें। शास्त्र में कहा है:—

'पया हियट्ठयाये'

भगवान् ऋषभदेव ने प्रजा-हित के काम किये हैं। उनकी स्थापित की हुई राजनीति से ही, आज आप लोगों का काम चल रहा है। लोगों ने, दम्भ फैला कर उनकी बताई हुई नीति को उलटी अवश्य कर दी है, परन्तु उन्होंने तो ये काम सब के हित की दृष्टि से ही किये थे। जो मनुष्य, उनके कामों को एकान्त पाप बतलाते हैं, वे भूल करते हैं।१ ऐसा कहने वाले, अभी इतने ज्ञानी नहीं हो गये हैं, कि भगवान् ऋषभदेव के कामों को एकान्त पाप कह सकें। भगवान् ऋषभदेव ने जो नीति स्थापित की है, उसमें से एक विवाह को ही लीजिये। यदि विवाह प्रथा न होती और वही दशा होती, जो जुगलियों में थी तो आज मानव-समाज की क्या दशा होती। जुगलियों में तो शान्त-भाव था, इसलिये वे 'काम' को अपने वश में रख सकते थे, लेकिन आज विवाह-प्रथा होने पर भी कई लोग पराई स्त्री पर दृष्टि डालते हैं, तो विवाह प्रथा न होने पर पशुओं से भी गये-बीते होते या नहीं? पशुओं में तो फिर भी मर्यादा है, परन्तु मनुष्य तो विवाह-प्रथा होने पर भी तीसों दिन भ्रष्ट होते रहते हैं, विवाह प्रथा न होती, तो क्या करते? इन बातों पर विचार करने से, भगवान् ऋषभदेव की स्थापित नीति का महत्व समझ में आ जाता है। यदि इन बातों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करें, तो जो भगवान् के इन कामों को पाप बतलाते हैं, वे ऐसा कहने का साहस फिर न कर सकें।

१जैन-श्वेताम्बर—तेरहपन्थी लोग, भगवान् ऋषभदेव के इन सब कामों को एकान्त-पाप कहते हैं। उनकी दृष्टि में, केवल सूत्र चारित्र-धर्म को छोड कर संसार के शेष सब काम एकान्त पाप है।
—सम्पादक।

प्रकरण का सारः— ऐक्य, राज्य, स्वातन्त्र्य ये राष्ट्र-रूपी शरीर के हाथ-पाँव जैसे प्रधान अङ्ग हैं।

व्यक्ति, कुटुम्ब एवं समाज की सुखाकारी में ही राष्ट्र की सुखाकारी रही हुई है। प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का अंग है, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्र-शक्ति रही हुई है। अतः प्रत्येक के हृदय में देश-भक्ति होनी आवश्यक है। समभावना, न्याय-प्रियता और स्वाधीनता इन राष्ट्र-पताका के तिरंगे रंगों से प्रत्येक व्यक्ति का हृदय रंगा जाना चाहिये।

—: ० —

४ : पाखण्ड-धर्म

तीन धर्मों की व्याख्या तो हो चुकी, अब चौथा धर्म अर्थात् 'पाखण्ड-धर्म' के विषय में कुछ कहते हैं।

'पाखण्ड-धर्म का अर्थ यदि किसी साधारण मनुष्य से पूछें तो वह चक्कर में पड़ जायगा कि जो पाखण्ड है, वह धर्म कैसे हो सकता है ? साधारण लोग, पाखण्ड शब्द का अर्थ केवल दम्भ ही मानते हैं, परन्तु दशवैकालिक-सूत्र अध्याय २ निर्युक्ति १५८ की टीका में पाखण्ड शब्द का अर्थ यों किया है:—

> पाखण्ड व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि ।
> स पाखण्डी वदन्त्यन्ये, कर्मपाशाद्विनिर्गतः ।।

अर्थात्—पाखण्ड नाम व्रत का है। जिसका व्रत निर्मल है उस कर्म-बन्धन से विनिर्मुक्त-पुरुष को पाखण्डी कहते हैं।

जिन्हें प्रतिक्रमण आता हो, उनसे पूछते हैं, कि प्रतिक्रमण में 'पर-पाखण्ड' आता है, उसका अर्थ क्या है ? यदि पाखण्ड का अर्थ केवल दम्भ होता है, तो इसके पहले 'पर' लगाने की क्या आवश्यकता थी ? क्योंकि जैसे पराया पाखण्ड बुरा है, वैसे ही अपना पाखण्ड भी तो बुरा होना चाहिए, फिर 'पर' क्यों लगाया ? केवल यही कहा जाता कि 'मैंने यदि पाखण्ड की प्रशंसा की हो, तो तस्स-मिच्छामि दुक्कड़ं' किन्तु ऐसा न कह कर 'पर-पाखण्ड' क्यों कहा है ?

पाखण्ड का एक अर्थ दम्भ भी है। दूसरे के धर्म को खण्डन करने के लिये भी, लोग पाखण्ड शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे, एक दूसरे पर कटाक्ष करते हुए शैव, वैष्णव को और वैष्णव शैव को, इसी प्रकार जैन-धर्मावलम्वी, इतर धर्मावलम्बियों को और इतर धर्मावलम्वी, जैन-धर्मावलम्बियों को 'पाखण्डी' कहते हैं, परन्तु पाखण्ड शब्द का अर्थ सब जगह यानि सर्वत्र, दम्भ मानना, जैन-शास्त्र से सम्मत नहीं है।

पापों का नाश करने वाले व्रत का नाम भी पाखण्ड है, ऐसा वर्णन जैन-शास्त्रों में आया है। ठाणांग-सूत्र में, पाखण्ड-धर्म कहा है, उसमें व्रतियों के धर्म का भी समावेश है। प्रश्न व्याकरण-सूत्र के दूसरे सम्वरद्वार में भी ऐसा पाठ आया है—

"अणेग पासंडि परिग्गहित"

टीका—अनेक पाखण्डी परिगृहीत नाना विध व्रतिभिरङ्गीकृतं।

अर्थात्—अनेक प्रकार के व्रतधारियों से स्वीकार किया हुआ।

व्रत का नाम पाखण्ड है और वह व्रत जिसमें हो, उसे पाखण्डी कहते हैं। उन पाखण्डियों से धारण किये हुए होने के कारण सत्य व्रत 'अनेक पाखण्डी परिगृहीत' कहा गया है।

यदि पाखण्ड शब्द का अर्थ केवल बुरा ही होता, तो दश-वैकालिक सूत्र में "समण" शब्द की व्याख्या करते हुए:—

पव्वइए, अणगारे, पासंडे, चरग तावसे भिक्खू ।
परिवाइए य समणे निग्गंथे सजए सुत्ते ॥

श्रमण को, अणगार, पाखण्डी, प्रव्रजित, निर्ग्रन्थ, संजती आदि क्यों कहते ? और प्रश्न व्याकरण सूत्र में भी पाखण्डी को व्रती क्यों कहा जाता ?

"पाखण्ड" नाम व्रत का है । क्योंकि व्रत, पाप से रक्षा करता है । व्रत से पाप का खण्डन होता है, इसलिए वह व्रत (आचार) जिसमें हो, उसका नाम पाखण्डी है ।

पाखण्ड, धर्म और दम्भ दोनों का नाम है । ग्राम, नगर और राष्ट्र में फैलने वाले दम्भ को, अधर्म कहते हैं । वह, दम्भ रूप पाखण्ड, अधर्म कहा जायगा । उसे कोई पाखण्ड-धर्म कैसे कह सकता है ? क्योंकि धर्म से रक्षा होती है और अधर्म से नाश ।

यहां, पाखण्ड शब्द का अर्थ पाप नहीं है, बल्कि लौकिक तथा लोकोत्तर व्रतों का पालन है । गृहस्थाश्रम में रह कर जो व्रत पालन किये जाते हैं, उनका भी समावेश इसी में होता है । शास्त्र कहता है:—

'गिही वासे वि सुव्वया'

अर्थात्—गृहस्थाश्रम में रह कर सुव्रत का पालन करता है उसे सुव्रती कहते हैं ।

धृति आदि सद्गुणों का पालन करना भी सुव्रत कहा जाता है । जैसे कहा है:—

'धृत सत् पुरुष सुवत्त'

जो सत्पुरुष धृति आदि नियमों का पालन करता है, उसका नाम सुव्रती है ।

चाहे जितनी विपत्तियां घेरें, किन्तु उदार-प्रकृति होने से जो सदाचार को न त्यागे, उसे सुव्रती कहा है । जिस जगह ये ज्यादा

होंगे, वही ग्राम, देश और नगर सुरक्षित होता है। नीति में कहा है:—

> प्रिया न्याय्यावृत्तिर्मलिनमसुभंगेऽप्यसुकरम्,
> त्वसन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनु धनः।
> विपद्युच्चैः स्थेयं, पदमनुविधेयं च महतां,
> सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्?॥ (भर्तृहरि)

अर्थात्— विपत्ति पड़ने पर ऊँची जगह पर रहना और बड़े लोगों के मार्ग से चलना। न्यायानुकूल जीविका में प्रेम रखना, प्राण निकल जाने पर भी पाप-कर्म न करना। असज्जनों से किसी चीज के लिये याचना न करनी और थोड़े धन वाले मित्र से भी नहीं मांगना। यह वड़ा ही कठिन असिधारा व्रत सज्जनों को किसने सिखलाया? अर्थात्—विना ही किसी के सिखलाये ये सब गुण सज्जनों में स्वाभाविक ही होते हैं।

जिस समय, ग्राम-धर्म, नगर-धर्म और राष्ट्र-धर्म इन तीनों धर्मों का समुचित-रूपेण पालन होता है, तब व्रत-स्वरूप 'पाखण्ड-धर्म' की भी उत्पत्ति होती है और इस धर्म के उदय होने पर, ऐसे धर्मशील मनुष्य पैदा होते हैं, जो कठिन से कठिन व्रतों का भलीभांति पालन करके उच्च-आदर्श उपस्थित करते हैं। ये व्रतधारी, कष्ट में ऐसे धैर्यवान् और अडिग होते हैं, जैसे—मेरु। सब देश और सब जाति में, ऐसे मनुष्य पैदा होते हैं, कि लाख कष्ट होने पर भी धर्म न छोड़ें। ऐसे ही व्रतधारी-मनुष्यों को सुव्रती कहा है।

धर्म की जो सीमा महा-पुरुषों ने वांधी है, उसको छोड़ कर संकट में भी कुपथ पर न जायँ, यह सुव्रती का व्रत है। सुव्रती को न्याय-वृत्ति प्रिय होती है। वह चाहे भूखों मर जाय, परन्तु उसे अन्याय कदापि प्रिय नहीं हो सकता। बड़े से वड़ा कष्ट पड़े किन्तु अन्याय से पैदा किये हुये पैसे को वह कभी स्पर्श तक न करेगा।

आज, एक पैसे के लिये भी लोग झूठ बोलने को तैयार रहते हैं। सोचते हैं कि 'सामायिक में बैठे उतनी देर धर्म है; बाकी दुकान पर तो सब पाप ही पाप है।' इसी नीच-विचार से पाप होते हैं।

जो मनुष्य सुव्रती हैं, वे प्राण-भङ्ग होने पर भी मलिन आचरण करने का विचार तक नहीं करते। सुदर्शन श्रावक ने प्रसन्नता-पूर्वक शूली पर चढ़ जाना स्वीकार कर लिया, किन्तु अभयारानी की प्रार्थना स्वीकार नहीं की। श्रावक ही ऐसे होते हैं, यह बात नहीं है। जोधपुर के राठौड़ दुर्गादास के चरित्र को देखो। उसे औरङ्गजेब की बेगम गुलेनार ने, दिल्ली का तख्त देने का लालच दिया और प्रार्थना की कि मुझे अपनाओ। उसने यह भी कहा, कि यदि आप मुझे स्वीकार करें, तो मैं आज ही बादशाह को मार कर आपको दिल्ली का सम्राट बना दूं; किन्तु दुर्गादास ने उत्तर दिया कि 'तू मेरी मां है।' जब गुलेनार ने अपने प्रलोभन को निष्फल होते देखा, तो उसने दूसरा मार्ग ग्रहण किया। दुर्गादास को डांटने लगी, कि यदि तुम मेरी प्रार्थना स्वीकार न करोगे, तो यह मेरा लड़का कामबख्श खड़ा है, मैं अभी तुम्हारी गर्दन कटवा दूंगी। दुर्गादास ने कहा—'मैं इसकी परवा नहीं करता, मुझे अपने प्राणों की अपेक्षा सदाचार अधिक प्रिय है।' ऐसे मनुष्य को, श्रावक न होने पर भी ऐसी न्याय-वृत्ति रखने के कारण, क्या न्यायी पुरुष न कहेंगे?

जो मनुष्य सुव्रती है, वह अपने मित्र से भी कभी याचना नहीं करता कि तू मुझे दे। उसका यह व्रत होता है, कि मित्र को देना चाहिये किन्तु उससे मांगना न चाहिए। यह बात दूसरी है, कि कष्ट में देख कर मित्र स्वयं उन्हें कुछ दे और वे ले लें; किन्तु कठिन से कठिन कष्ट में पड़ कर भी सुव्रती, अपने मुंह से किसी को यह न कहेंगे कि हमें कुछ दो।

सारांश यह कि पाखण्ड शब्द का अर्थ है व्रत, और लौकिक

तथा लोकोत्तर व्रतों के धारण करने वाले मनुष्यों को पाखण्डी कहते हैं। जिस धर्म से व्रतों का सुचारु-रूप से पालन हो सके, उसे शास्त्रकारों ने पाखण्ड-धर्म कहा है।

प्रकरण का सार:—पाखण्ड-व्रत-धर्म जीवन को नियमित बनाता है, आत्म-बल देता है, इसलिये मनुष्य का सच्चा मित्र है। निरंकुश-जीवन मनुष्य को उच्छृंखल बनाता है, आत्म—गौरव भुलाता है इसलिए व्रत धारण करके जीवन को मर्यादित बनाना चाहिये, यही उत्थान का सोपान है।

—:०:—

५ : कुल-धर्म

कुल—धर्म अर्थात् कुलाचार—रूपी धर्म। कुल—धर्म उसको कहते हैं, जिसके पालन से कुल, पतित-अवस्था से निकल कर उच्च अवस्था में प्राप्त हो। अथवा यों कहें कि दुर्गुणों से निकल कर सद्गुणों में स्थापित हो।

जिस समय, देश में ग्राम-धर्म, नगर-धर्म राष्ट्र-धर्म और पाखण्ड-धर्म का अच्छी तरह पालन होता है, तब कुल-धर्म की भी वृद्धि होती है। या यों कहिए कि उस समय की प्रजा कुल-धर्म पालने में दृढ़ होती है।

कुल-धर्म के दो भेद हैं, एक लौकिक दूसरा लोकोत्तर। जिस

धर्म के पालन से, वंश की उन्नति हो और दुर्व्यवस्था मिट कर सदाचार की वृद्धि हो, उसे लौकिक कुल-धर्म कहते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि सूत्र-चारित्र-धर्म तो धर्म हैं, बाकी के सब धर्म, पाप हैं। उनसे पूछना चाहिए, कि क्या अच्छे कामों द्वारा कुल को ऊँचा चढ़ाना पाप है, तो क्या अधोगति में डालना धर्म है?

लौकिक कुल-धर्म के पालने वाले, एक-एक ऐसे-ऐसे वीर होते हैं, कि चाहे उनके प्राण चले जायँ, किन्तु पूर्वजों के अच्छे व्यवहारों को नहीं छोड़ते। चाहे एक-एक अन्न के कण के लिये उन्हें तरस ना पड़े, किन्तु न तो ये कभी चोरी करेंगे और न कभी झूठ बोलेंगे। यह उच्चता उनमें केवल अपने कुल का धर्म पालन के ही कारण आती है।

एक मनुष्य कुल को ऊँचा करने तथा दूसरा मनुष्य कुल को नीचा करने का काम करता है। इन दोनों में कुछ अन्तर है, या दोनों ही बराबर हो जायेंगे?

'बहुत अन्तर है।'

सूत्र-चारित्र-धर्म तो सम-दृष्टि होने पर आते हैं; किन्तु यदि किसी मनुष्य में सूत्र-चारित्र-धर्म का उदय न हुआ हो, तो क्या उसे कुल-धर्म का पालन भी न करना चाहिये? नाना प्रकार के संकट सह कर भी, जो मनुष्य कुल-धर्म की रक्षा के लिये कभी चोरी, व्यभिचारादि अधर्म नहीं करता, उसे इस कुल-धर्म के पालन के कारण जो पापी कहे उसकी बुद्धि के विषय में क्या कहें?

कुल-धर्म को पाप बतलाने वाले, कभी यह सोचने का कष्ट नहीं करते कि जो मनुष्य कुल-धर्म का ही पालन न करेगा, वह सूत्र-चारित्र-धर्म का पालन कब कर सकता है? इसके अतिरिक्त जब कुल-धर्म ही नष्ट हो जायगा, तो सूत्र-चारित्र-धर्म टिकेगा किस पर?

कई आदमी यह दलील देते हैं, कि जिस काम की आज्ञा अरिहन्त दें, वह धर्म है और जो काम अरिहन्त की आज्ञा में न हो, वह पाप में है। यह कहना भी सूत्र के जानने का परिणाम है। क्योंकि, भगवान् की आज्ञा तो केवल समदृष्टि ही मानता है और कुल-धर्म तो सम-दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि आदि सभी पालते हैं। भगवान की आज्ञा नहीं मानता है, इससे क्या मिथ्या-दृष्टि के कुल-धर्म के कच्छे कार्य पाप-मय हो सकते हैं?

'क़दापि नहीं।'

अतएव यह कहना मिथ्या है कि भगवान् की आज्ञा के सिवा जो कार्य किये जावें, वे एकान्त पाप हैं।

मेरा कोई शिष्य मेरी बात को न माने, तो मैं उसे क्या कहूँगा? 'आज्ञा बाहर।'

किन्तु यदि वह मेरी आज्ञा से निकल कर भी शील का पालन करता हो, तो क्या मैं उसे कुशीला कह सकता हूँ?

'नहीं।'

इसी तरह अरिहन्त की आज्ञा तो केवल ज्ञान, दर्शन और चारित्र इन तीन की है। किन्तु जिसमें ये तीनों न हो, उसके अच्छे कार्य भी पाप मानना कैसे उचित हैं?

भगवान अरिहन्त ने, केवल ज्ञान पाने के बाद, केवल लोकोत्तर-धर्म के पालन करने की ही आज्ञा दी है। जब, तीर्थंकर छद्मस्थपने में गृहवास में रहते हैं, तब लौकिक-धर्म पालन करने की आज्ञा देते हैं। किन्तु लौकिक तथा लोकोत्तर दोनों धर्मों का स्वरूप बतलाना छद्मस्थ और सर्वज्ञ सभी का आचार है।

कुल-धर्म के आचरण का अर्थ है, कुल को ऊँचा उठाना और अपने पूर्वजों के अच्छे से अच्छे सिद्धान्तों का उचित-रूप में पालन करना। सूत्र-चारित्र-धर्म का आधार भी कुल-धर्म माना गया

है। क्योंकि शास्त्रों में आचार्यों के गुण कहे हैं, वहां भी 'जाइ-सम्पन्ने' 'कुल-सम्पन्ने' कहा है। अतएव कुल-धर्म भी चारित्र-धर्म के अनुकूल माना गया है।

प्रकरण का सार:- कुल-धर्म, लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार का है। गुरु की सेवा में रहकर गुरू-जन की सेवा करना लोकोत्तर कुल-धर्म है और जिस कुल में उत्पन्न हुआ है उस कुल की मर्यादा का पालन करना, अनीति, अन्याय से बचना, लौकिक कुल-धर्म है। जहां कुल-धर्म का परम्परा से पालन होता हो, वैसे विशुद्ध-कुल में ही महा-पुरुष अवतरते हैं।

—:o:—

६: गण-धर्म

गण-धर्म उस धर्म को कहते हैं, जिसे पालने की गण के प्रत्येक सभ्य पर जिम्मेदारी रहती है।

'गण' समूह को कहते हैं, जिसे कुछ मनुष्यों ने निर्बलों की सहायता आदि के लिये बना लिया हो। जैसे नौ लच्छी और नौ मल्ली ऐसे अठारह राजाओं का एक गण बना था जो सदैव निर्बलों की सहायता करता था।

गण-धर्म के पालन करने वालों का यह व्रत होता है, कि किसी भी देश या काल में, यदि सबलों के द्वारा निर्बल सताये जाते हों, तो अपना तन, मन और धन खोकर भी उनकी रक्षा

करना। इसे ही प्रजा सत्तात्मक राज्य ※ भी कहते हैं।

वहिलकुमार, केवल चेडा राजा का दोहिता था, अठारह राजाओं का नहीं। परन्तु चेडा ने, गण के अठारहों राजाओं को एकत्रित करके, वहिलकुमार का किस्सा सुनाया कि, यह हार—हाथी देने को तैयार है, परन्तु राज्य में जैसे अन्य ग्यारह भाइयों को हिस्सा मिला है; वैसे ही इसे भी हिस्सा मिलना चाहिये। यदि इसे हिस्सा न मिले, तो फिर केवल एक को ही राज्य मिल जाना चाहिये था। अन्य भाइयों को तो हिस्सा दिया गया और इसे नहीं दिया गया या नहीं दिया जाता, यह अन्याय है। यदि वे हिस्सा देते हों, तो यह हार—हाथी लौटाने को तैयार है और यदि वे हिस्सा न देते हों, तो यह भी हार-हाथी नहीं लौटा सकता। ऐसी अवस्था में यदि आप लोग कहें, तो मैं इसको वहां भेज दूं और नहीं तो कोणिक का सामना करें।

यहां मालूम होगा कि गण-धर्म का क्या महत्व है और उसके पालने वालों में कितनी दृढ़ता की आवश्यकता है। आज के लोग होते, तो कह देते कि किसका लेना और किसका देना। हार-हाथी या राज्य चूल्हे में पड़ो, हम इस झगड़े में क्यों पड़ें? किन्तु वे लोग ऐसे कुल में जन्मे थे, कुल-धर्म के ऐसे पालने वाले और गण-धर्म के ऐसे मर्मज्ञ थे, कि चाहे प्राण चले जायं, परन्तु धर्म न छोड़ें।

उन सब राजाओं ने उत्तर दिया, कि वहिलकुमार अथवा हार-हाथी को वहां भेजने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें गण की

※भारत में गण अथवा संघ शासन व्यवस्था ई. पू. चौथी शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी ई. तक अर्थात् ८०० वर्षों तक वर्तमान रही अन्त में चौथी शती में समुद्रगुप्त ने दिग्विजय करके ऐसे राज्यों का अन्त कर दिया।

भारत का इतिहास

ओर से पहले सूचना दी जावे, कि वे वहिलकुमार के साथ न्याय करें, अथवा युद्ध के लिये तैयार हो जायँ। आप तैयारी कीजिये, हम भी आपका साथ देने को तैयार हैं।

इसका नाम गण-धर्म है। गण-धर्म के ऐसे और भी बहुत से उदाहरण हैं, कि चाहे मर गये, सर्वस्व नष्ट हो गया किन्तु अपने धर्म के पालन से विमुख नहीं हुए।

यहाँ कोई यह शङ्का कर सकता है, कि अच्छे काम का नाम धर्म है, परन्तु यहाँ तो हार-हाथी न देने से संग्राम होगा और हार-हाथी दे देने से न होगा, ऐसी अवस्था में हार-हाथी न लौटा कर संग्राम की तैयारी की, यह धर्म कैसे हुआ ?

मैं आप लोगों से पूछता हूँ, कि साधु की वन्दना के लिए राजा सेना लेकर आवे और एक आदमी अकेला आवे, अब जीव किस से ज्यादा मरे !

'राजा की सेना से।'

राजा परदेशी केशी-श्रमण ने खूब चर्चा करके बिना खमाये जाने लगा। तब केशी-श्रमण ने उससे कहा कि राजा ! इतनी देर तक चर्चा करने में तुमने मुझसे बहुत-सी आड़ी-टेड़ी बातें की और अन्त में बिना क्षमा मांगे जाते हो, क्या यह साधु की अवज्ञा नहीं है ? राजा परदेशी ने उत्तर दिया कि, मैं इस बात को जानता हूँ, किन्तु मेरी यह भावना नहीं है कि मैं आपको न खमाऊँ। मेरा विचार है, कि मैं परिवार सहित सेना लेकर आऊँ, तब आपको खमाऊँ।

सोचना चाहिए, कि यदि राजा अकेला ही क्षमा मांग जाता, तो जीव हिंसा कम होती और सेना लेकर खमाने आये, तो जीव-हिंसा ज्यादा हो। फिर सपरिवार सेना सहित खमाने आने में क्या विशेषता है ? और जब परिवार तथा सेना के साथ आने में ज्यादा

खोने की सम्भावना थी, तो केशी श्रमण ने यह क्यों नहीं कह देते कि सपरिवार सेना सहित वन्दना करने को आकर जीवों की ।धना करने की आवश्यकता नहीं है, यदि तुम्हें खमाना ही है, अकेले ही खमा जाओ ? इसका समाधान कारक उत्तर क्या होगा ?

इस प्रश्न का मर्म विचारने से यह मालूम होता है, कि अकेले खमाने से बहु-जन-समाज पर धर्म का प्रभाव नहीं पड़ता; और सपरिवार सेना सहित आने से, बहुजन-समाज पर धर्म का असाधारण प्रभाव पड़ता है। इससे जैन-धर्म की प्रभावना यानी जैन-धर्म का दिपाना होता है। इसी कारण केशी-श्रमण महाराज ने सेना सहित वन्दना करने आने का निषेध नहीं किया और आनेजाने में बहुत द्वीन्द्रियादिक-प्राणियों की विराधना होने की सम्भावना अवश्य है, अतएव केशी-श्रमण महाराज ने ऐसी आज्ञा भी न दी, कि तुम अवश्य सपरिवार सेना सहित वन्दना को आना। केवल आरम्भ को देखें और उससे होने वाले लाभ को न देखें, तो क्या यह न्याय हो सकता है ?

'नहीं'

राजा परदेशी मूर्ख नहीं था, बल्कि समझदार था। कभी यह मान लें, कि राजा को विशेष ज्ञान नहीं था, तो केशी-श्रमण को सो ज्ञान था ? यदि राजा का ऐसा करना उचित नहीं था, तो उन्होंने राजा को निषेध क्यों नहीं किया ? इस पर से समझना चाहिये कि साधु, थापना–उथापना में न रहें, परन्तु जो बात उचित है, उसे कैसे मना कर दे ?

अब आप लोग प्रश्न करेंगे, कि राजा परदेशी की बात तो सूत्र-धर्म की है और यहां चर्चा है गण-धर्म की। यदि लड़ाई हुई तो बहुत से मनुष्य मरेंगे, अतः हम इसे कैसे मान लें ? इसका उत्तर यह है कि जैसे सूत्र-धर्म में राजा यदि अकेला ही वन्दना कर लेता, तो

जनता तथा सेना पर उसका प्रभाव न पड़ता, ऐसे ही गण-धर्म
यदि गण-धर्मी लोग यह कह देते कि हार-हाथी दे दो, तो लोग न्याय
डरपोक कहते या वीर ? जिये,

'डरपोक'

और यदि हार-हाथी देते, तो संघ-धर्म का नाश होता या उसकी रक्षा होती ?

'नाश होता।'

प्रत्येक मनुष्य इस बात को कहने लगता, कि जब तक सिर पर नहीं बीती, तब तक तो गण-धर्म का स्वांग रचा और जब सिर पर आकर पड़ी, तब धर्म को छोड़ दिया। ऐसा कहने से गण-धर्म तथा राजाओं को कलङ्क लगता या नहीं ? और धर्म में से जब सत्य निकल जाता, तो धर्म का अपमान होता या नहीं ?

जिस प्रकार राजा परदेशी के सेना लेकर वन्दना करने आने से समकित-धर्म को लाभ हुआ, उसी प्रकार इन लोगों का हार-हाथी न देने से, गण-धर्म की रक्षा हुई। इस गण-धर्म की रक्षा में, जितने मनुष्यों का वध हुआ, उन सब के महान् पाप का भागी कोणिक हुआ। क्योंकि उसी ने झूठी लड़ाई मचाई थी। इन लोगों ने अन्याय के प्रतिकार के लिये जो लड़ाई की थी, उसमें आरम्भ तो अवश्य हुआ, किन्तु इन लोगों ने अन्याय का पक्ष नहीं लिया था, बल्कि न्याय का पक्ष लिया था।

आरम्भ को धर्म हम भी नहीं कहते, परन्तु धर्म की रक्षा करना भी तो आवश्यक है न ? आरम्भ का नाम लेकर धर्म-बुद्धि का लोप कर देने से ही जैन-धर्म को लोग डरपोक समझने लगे हैं।

पहले के मनुष्य, इतने विचारशील और धर्म-पालन में ऐसे दृढ़ थे, कि युद्ध करना स्वीकार कर लिया, किन्तु शरण में आये हुए को अपनी शरण में न रखना या उसे न्याय न दिलाना, यह

स्वीकार नहीं किया। जो मनुष्य, अपनी शरण में आये हुए को त्याग देते हैं, वे कायर हैं। जो उदार और धर्मात्मा हैं, वे तो अपना सर्वस्व देकर भी शरणागत की रक्षा करते हैं। महाराजा मेघरथ ने अपने प्राण की परवाह नही करते हुए भी शरण आये हुए पारेवा की रक्षा की थी।

इस युद्ध में जितने मनुष्यों का वध हुआ था, उन सब के लिए कोणिक को इसलिये जिम्मेदार ठहराया जाता है, कि उसने अन्याय का पक्ष ग्रहण करके युद्ध का बीजारोपण किया था। जब उसे किसी प्रकार भी अन्याय का पक्ष छोड़ते न देखा, तो विवश हो गण-धार्मियों ने सत्य-पक्ष का समर्थन करके शरणागत की रक्षा एवम् गण-धर्म पालनार्थ युद्ध किया। चेड़ा तथा नौ मल्लि और नौ-लच्छि समदृष्टि थे और कौणिक यद्यपि पहले महावीर का भक्त था किन्तु युद्ध के समय अन्याय का पक्ष-पाती था।

एक मनुष्य, यदि दुष्ट-भाव से प्रेरित होकर एक कीड़ी का भी वध कर दे, तो वह पापी कहलायगा, किन्तु यदि कोई चक्रवर्ती-नरेश, अन्याय का विरोध करने के लिये अपनी चतुरङ्ग सेना युद्धार्थ सजाता है, तो वह भी अपराधी नहीं कहलाता है। इसका कारण यह है, कि सम्राट विवश होकर अन्याय-अत्याचार का विरोध करता है। यदि वह ऐसा न करे, तो समस्त देश में अन्याय फैल जाय और धर्म का पालन होना असम्भव हो जाय। दूसरी तरफ कीड़ी मारने वाला, संकल्पजा हिंसा करता है, अतः वह अपराधी है।

इसी प्रकार कोणिक ने जान-बूझ कर हिंसा की स्थिति उत्पन्न की और अन्याय का पक्ष लिया, अतः यह निरपराध को मारने का पाप हुआ और गण-धर्मियों ने केवल अन्याय दबाने की इच्छा से विवश हो युद्ध किया, अतः उन पर अन्याय-पूर्ण हिंसा की जिम्मेदारी नहीं डाली जा सकती।

प्रकरण का सार:—गण-धर्म (प्रजातन्त्र) अपना प्राचीन संघ-धर्म है। एक समर्थ व्यक्ति, जो कार्य नहीं कर सकता, वह गण-(समूह) बल से सरलता-पूर्वक हो सकता है। अतः व्यक्तिगत-स्वा। मत या भेद को दूर करके नैतिक-बल का विकास किया जाय, तो समूह-बल से कठिन कार्य भी सरल बन सकते हैं। मनुष्य-जीवन अनेक आवश्यकताओं से भरा हुआ है। जिनकी पूर्ति सहयोग-पूर्वक सङ्गठन से ही हो सकती है अतः प्रत्येक व्यक्ति को सहयोग द्वारा गण-धर्म का पालन करना चाहिये।

—:०:—

७: संघ-धर्म

संघ-धर्म, उस धर्म का नाम है, जिसके पालन करने से संघ के प्रत्येक मनुष्य की उन्नति हो।

संघ-धर्म के दो भेद हैं। एक लौकिक संघ-धर्म और दूसरा लोकोत्तर-संघ-धर्म। लौकिक संघ-धर्म की व्याख्या करते हुए शास्त्र कहता है:—

संघ धम्मो-'गोष्टी सामाचार'

अर्थात्—संघ या सभा के नियमोपनियम।

जाहिर-समाचार, जाहिर-सभा तथा जाहिर-संस्था, जिसमें सब का हक समझा जावे, सब की सुव्यवस्था का विचार हो और जिसके द्वारा सब उन्नत हों, ये सब भेद लौकिक-संघ-धर्म में समा जाते हैं।

लोगों की ऐसी धारणा है, कि जैन-धर्म अपूर्ण तथा अव्याव-हारिक है। किन्तु कुछ तो उन लोगों की गलती है, जो जैन-धर्म का रहस्य समझे बिना ही केवल ऊपरी बातें देख कर ऐसा कह डालते हैं और प्रधान दोष आजकल के उन जैन-भाइयों का है, जो कायरों की सी वृत्ति रख कर इन वीरों के धर्म को लजाते हैं। जैन-धर्म या जैन-शास्त्रों में सारे संसार के विचार भरे पड़े हैं।

जाहिर-समाचार, जाहिर-रचना तथा जाहिर-संस्था में, सारे संघ अर्थात् सारी प्रजा का हित देखा जाता है। जिस धर्म में, हिन्दू, मुसलमान या और किसी एक ही समाज का हित विचारा जाता हो, उसे कुल-धर्म या गण-धर्म तो कह सकते हैं, किन्तु संघ-धर्म नहीं कह सकते।

राष्ट्र का सम्पूर्ण संघ-धर्म ठीक उसी प्रकार का है, जैसे नेशनल कांग्रेस। ऐसे संघ-धर्म के अनुसार जो सभा या संस्था स्थापित हो; उसमें समष्टि के विरुद्ध किसी व्यक्ति-विशेष के हानि-लाभ के वास्ते, समष्टि के कानून का भङ्ग करना तथा अपने स्वार्थ की बात छेड़ कर समष्टि के उपकारी कामों को स्थान न देना, संघ-धर्म का नाश करना है। यहां, केवल उन्हीं बातों का विचार होना उचित कहा जाता है, जो अधिक से अधिक व्यक्तियों के लिये लाभ-प्रद हो। जैसे अखिल-भारतीय-संघ अर्थात् ऑल-इण्डिया नेशनल कांग्रेस ने निश्चय किया, कि विलायती-वस्त्र भारत में न आने पावे। इस ठहराव से यद्यपि थोड़े से कपड़े के व्यापारियों की हानि है, तथापि करोड़ों गरीबों की हानि का विचार न किया जावे, तो यह संघ-धर्म की हानि है। अब, इस ठहराव की अवहेलना करके जो व्यापारी संघ-धर्म से छल-कपट करता है, वह संघ-धर्म का नाश करता है। यदि निष्कपट-भाव से संघ-धर्म का समुचित-रीत्या पालन किया जाय, तो संघ का बहुत अधिक लाभ होने की सम्भावना है।

बुद्धिमान् मनुष्य, केवल अपने स्वार्थ के लिये दुनिया का

अहित नहीं चाहते । यह उदारता जहां के मनुष्यों में होती है, वहां के संघ का अहित कभी नहीं होने पाता । उदाहरणार्थ मान लीजिए कि एक गांव के निवासी एकत्रित होकर नरेश से यह प्रार्थना करें, कि गायों के चरने के लिये कोई स्थान नहीं है, अतः एक मैदान गोचर-भूमि के लिए छोड़ दिया जावे और उस मैदान की चराई या कर न लिया जावे । इस प्रार्थना के स्वीकार हो जाने से, गांव के अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुंचने की आशा है । किन्तु यदि एक मनुष्य यह सोचकर, कि 'गांव के हानि-लाभ से अपने को क्या मतलब है, राजा का पक्ष लेने पर राज्य में अपनी इज्जत हो जायगी और शायद कोई उपाधि भी मिल जाय, इस खयाल से गांव वालों की इस बात का विरोध करे अर्थात् उनके उपायों को असफल करने का प्रयत्न करे, तो समझना चाहिए कि वह संघ-धर्म का नाश करने वाला है । प्रजा के हित का ध्यान न रख कर राजा की तरफ हो जाय और केवल अपने स्वार्थ के लिये हजारों के गले कटवावे, यह एक साधारण गृहस्थ के लिए भी अनुचित है, तो बारह-व्रतधारी श्रावक, यह कार्य कर ही कैसे सकता है ?

कुछ सज्जन, संघ-धर्म के संगठन और संघ-धर्म की रक्षा के लिये किये जाने वाले कार्यों को एकान्त-पाप कहते हैं, किन्तु जिस संघ-धर्म के पालन से मानव-समाज नीच-कर्म छोड़ देता है और ऐसा होने से संसार के उत्थान के साथ-साथ सूत्र-चारित्र-धर्म के पालन के लिये क्षेत्र तैयार होता है, क्या उस संघ-धर्म को एकान्त-पाप कहना उचित है ?

'नहीं ।'

संघ-धर्म के पालन में, आरम्भ-समारम्भ अवश्य होते हैं, और उन्हें आरम्भ-समारम्भ मानना भी चाहिए, किन्तु आरम्भ-समारम्भ भी दो तरह के होते हैं । जैसे एक मनुष्य अपनी पुत्री के

लग्न करे और दूसरा मनुष्य अपनी मां के लग्न करे। लग्न के ठाट-बाट दोनों में होगे, किन्तु क्या दोनों लग्न बराबर कहें जा सकते हैं?

'कदापि नहीं।'

खर्च दोनों विवाहों में होता है, किन्तु क्या दोनों खर्च एक समान है?

'नहीं'

किन्तु यदि कोई मनुष्य दोनों को एक समान कहे तो?

'वह झूठ कहता है।'

इसी प्रकार आरम्भ-समारम्भ की बात को समझना चाहिए।

एक काम के करने से उन्नति होती है और साथ-साथ अनेक महान्-पापों का प्रतिकार भी होता है, और दूसरे के करने से आरम्भ का भी पाप और उसके साथ-साथ अवनति तथा महा-पापों को उत्तेजना भी मिलती है। जिस कार्य के करने से उन्नति हो या लौकिक-धर्म का पालन हो और महान्-पापों का प्रतिकार हो, वैसे कार्य न करने से भी अवनति होती है और महान्-पाप-कर्मों को उत्तेजना मिलती है। यह जानते हुए भी, जो करने योग्य काम हैं, उन्हें पाप कह कर नहीं करते हैं, वे अपनी अवनति के साथ-साथ पापों की वृद्धि करते हैं। करने योग्य कार्यों को एकान्त-पाप कह कर, लोग अपनी अवनति और पापों की वृद्धि न करें, इसीलिये संघ-धर्म की स्थापना होती है।

यह, संघ-धर्म के लौकिक-पक्ष के विषय में कुछ बतलाया गया है, अब लोकोत्तर संघ-धर्म के विषय में कुछ कहते हैं।

जिस धर्म के पालन से, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका ऐसे चतुर्विध-संघ की उन्नति हो, वह लोकोत्तर-संघ-धर्म है। लोकोत्तर-

संघ-धर्म में भी, व्यक्तिगत—लाभ न देख कर, जिससे सारे संघ को लाभ हो, वह बात देखनी और करनी चाहिए ।

यदि कोई यह कहे, संघ-धर्म तो सूत्र और चारित्र-धर्म में बँट गया, फिर यहाँ उसका अलग वर्णन क्यों किया ? तो उसका यह कथन गलत है । सूत्र चारित्र-धर्म पृथक् है और संघ-धर्म पृथक् है । संघ-धर्म में, गृहस्थी और साधु इनके अलग-अलग कर्तव्य बतलाये गये हैं । इन दोनों के कर्तव्य यदि विभक्त न कर दिये जायँ, तो संघ का चल सकना कठिन हो जाय । इस बात को, निम्नोक्त उदाहरण से स्पष्ट करते हैं ।

एक मनुष्य, कपड़े की दूकान करता है और दूसरा जवाहिरात की । यद्यपि लौकिक-संघ का विचार करते समय, दोनों समान समझे जावेंगे, तथापि वे एक दूसरे का कार्य करने में असमर्थ हैं । यानी, यदि जौहरी को कपड़े की और बजाज को जवाहिरात की दूकान पर बैठा दें, तो दोनों ही दूकानें नष्ट हो जावेंगी ।

इसी प्रकार गृहस्थ और साधु मिल कर ही संघ बनता है, और सारे संघ का प्रश्न उपस्तिथ होने पर सब एक समान गिने जाते हैं, किन्तु जिस प्रकार जौहरी, बजाज की और बजाज, जौहरी की जबाबदारी नहीं सम्भाल सकते, उसी प्रकार साधु, श्रावक की और श्रावक, साधु की जबाबदारी भी पूरी नहीं कर सकते । यदि साधु की जवावदारी को श्रावक पर डाल दें और श्रावक का कार्य साधु से कराना चाहें, तो यह भी नहीं बन सकता, वह निश्चय ही नष्ट हो जाय । जैसे एक बालक जो दूध पीकर ही जीवित रह सकता है, यदि कोई साध्वी आंचल पिलावे तो ?

"दोप लगे ।'

किन्तु यदि कोई गृहस्थ-बाई यह कह कर, कि "साध्वी को आंचल पिलाने में पाप लगता है, इसलिये मैं भी अपने बच्चे को

दूध न पिलाऊंगी ।" बालक को दूध न पिलावे, तो आप लोग उसे उसे क्या कहेंगे ?

"निर्दयी"

शास्त्र ने, श्रावकों के लिये पहले अणुव्रत के पांच अतिचार कहे हैं । उनमें, भात-पानी का विछोह करना भी एक अतिचार है और साधु यदि किसी मनुष्य या जानवर आदि को भात-पानी दे, तो भी बड़ा दोष कहा है । अब यदि साधु का कार्य श्रावक पर डाल दिया जावे, तो श्रावक के धर्म का पालन कैसे हो सकता है ?

कुछ लोग कहते हैं, कि बस यह सीख लेने से कि "जो काम साधु करें, वही धर्म और जो काम साधु न करे, वह सब पाप है।" श्रावक समकित पा जाता है ❀ । उन्होंने अपनी समझ से इसी में सब शास्त्रों का सार भर दिया है । किन्तु प्रत्येक को अपनी-अपनी जवाबदारी समझाये बिना, संघ-धर्म की कितनी क्षति होगी, इस बात को सोचने का उन्होंने कष्ट भी नहीं किया और न यह विचार किया, कि श्रावक वे काम करके अपना श्रावक-धर्म कैसे चला सकता है, जो केवल संसार-त्यागी साधुओं के लिए ही निश्चित किये गये हैं ।

एक साधारण घर में भी जब प्रत्येक मनुष्य का पृथक्-पृथक् कार्य-क्रम रहता है, तो इतने बड़े संघ का काम, बिना विभाजित कार्य प्रणाली के कैसे सुव्यवस्थित चल सकता है ? मान लीजिये, कि एक साहूकार के चार पुत्र-वधू हैं । एक की गोदी में शिशु है, दूसरी गर्भवती है, तीसरी बांझ है और चौथी नवोढ़ा है । अब यदि सासू इन चारों के खान-पान, काम-काज, उठना-बैठना आदि की पृथक्-पृथक् व्यवस्था न करके, सब को एक ही ढङ्ग से रक्खे,

❀ तेरह-पन्थ सम्प्रदाय के साधुओं की यह प्ररूपणा है ।
—सम्पादक ।

तो क्या हो ?

"नुकसान हो जाय।"

साधुओं में भी कोई जिन-कल्पी है, कोई स्थविर-कल्पी है, कोई रोगी है और कोई तपस्वी है। इन सब का यदि बारीक-विचार से पृथक्-पृथक् धर्म न बांधा जाय, तो कदापि निर्वाह नहीं हो सकता। जब साधुओं में ही भीतरी भेदों का बिना अलग-अलग धर्म बांधे निर्वाह नहीं है, तो साधु और श्रावक का निर्वाह, एक धर्म पालने से कैसे हो सकता है ? साधुओं की आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी हैं और श्रावकों की बहुत ज्यादा। यदि ऐसा न होता तो लोग, श्रावक से साधु बनें ही क्यों ? इसीलिये बनते है न, कि हमें आरम्भ-समारम्भ न पड़ना पड़े और हमारी आवश्यकताएँ कम से कम हों। यदि साधु और श्रावक का एक ही धर्म है, तो ऐसा कहने वालों ने दीक्षा क्यों ली ? श्रावक रह कर ही उस धर्म का पालन करते। साधु-श्रावक तो दूर की बात है, केवल श्रावक-श्रावक को ही लीजिये। एक श्रावक ऐसा है, कि अपने घर में अकेला ही है और ५—७ रुपये मासिक व्यय से अपना निर्वाह कर सकता है। दूसरा श्रावक, राजा है या साहूकार और उसका बड़ा भारी परिवार भी है। अब, यदि अकेला रहने वाला श्रावक कहे, कि जो मैं करता हूँ, वही धर्म है--अर्थात् ५—७ रुपये मासिक व्यय में घर खर्च चलाना, यही धर्म है; इससे ज्यादा व्यय करने वाला और जितना आरम्भ मैं करता हूँ, उससे ज्यादा आरम्भ—समारम्भ करने वाला, श्रावक—धर्म नहीं पाल सकता; तो क्या उसके हिसाब से वह राजा १२ व्रतधारी श्रावक हो सकता है ?

'नहीं'

शास्त्र ने, प्रत्येक कोटि के व्यक्ति के लिये पृथक्—पृथक् धर्म बांध दिया है। एक मनुष्य, सोलह देशों का राजा होने पर भी

बारह-व्रत धारण करने वाला श्रेष्ठी-श्रावक हो सकता हैं। यदि शास्त्र-सम्मत और नीति-युक्त प्रत्येक काम को एकान्त पाप बतलाया जाता है, तो यह संघ-धर्म की हानि करना है। कोई भी उदार-वृत्ति वाला मनुष्य, ऐसी संकुचितता के कारण संघ-धर्म का पालन नहीं कर सकता।

उपरोक्त बातों से सिद्ध है, कि साधु का आचार-धर्म भिन्न और श्रावक का आचार-धर्म भिन्न है। जो लोग यह कहते हैं कि साधु-श्रावक दोनों का एक ही आचार-धर्म है, वे भूल करते हैं।

आजकल, संघ-धर्म भी चक्कर में पड़ा है। संघ की समुचित व्यवस्था न होने के कारण, साधु अपनी जवाबदारी श्रावक पर और श्रावक अपनी जवाबदारी साधु पर डालते हैं। जैसे पाठशाला चलाना, गुरुकुल खोलना, कार्यालय की व्यवस्था करना, गोरक्षा अथवा अनाथ-रक्षा का प्रबन्ध करना, आदि। यद्यपि ये सब बातें ऊँची-नीची दया और परोपकार की अवश्य हैं, किन्तु यदि साधु इस प्रपंच में पड़ें, और कहें कि हमारा काम गुरुकुल खुलवाने का व चलाने का है, तो यह ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाय, कि साधु उपकार न करें, तो फिर कौन करे? तो मैं पूछता हूँ, कि जिनमें अनेक आरम्भादि क्रियायें करनी पड़ती हैं ऐसे उपकार के कार्य यदि साधु ही करने लग जायेंगे, तो श्रावक लोग क्या करेंगे? जब श्रावकों की जिम्मेदारी का काम साधु ने ले लिया, तो क्या साधु के पंचमहा-व्रतों का पालन श्रावक करेगा? यदि श्रावक का काम साधु करें, तो श्रावक तो पंच-महाव्रतों को पूर्ण-रूप से पालन करने में असमर्थ ही हैं, अतः पंच-महाव्रत की तो इस तरह हानि ही होगी न?

साधु होकर किसी को सलाह दे, कि अमुक-संस्था-को एक-हजार रुपये दे दो, या ऐसा स्पष्ट न कह कर यों कहे कि रुपयों का मोह उतार दो या पुद्गलों का त्याग कर दो। उस रुपये देने वाले

को यह मालूम नहीं हैं, कि इन रुपयों का क्या होगा, किन्तु उसने साधु के कहने से रुपया दे दिया। साधुजी ने रुपया दिलाया है, अतः उसके हिसाब-किताब और देख-रेख की जवाबदारी साधु की हो जाती है। यदि सस्था में पोल चली और उन रुपयों का अनुचित व्यय हुआ, तो इस विश्वास-घात का पाप साधु पर आता है। क्योंकि उनकी ही साख पर, देने वाले ने रुपया दिया है और यदि साधुजी उन रुपयों का हिसाब-किताब उस संस्था में खुद ही रखें, तो वे महाव्रधारी नहीं रह सकते। ऐसी दशा में साधु, किसी संस्था में रुपये देने को कैसे कह सकता है? किन्तु आज प्रायः साधु लोग इस प्रपंच में अधिक पड़ते और प्रेरणा करते दिखाई पड़ते हैं। कितनी ही संस्थायें माला-माल हो रही हैं, वे इसी कारण से कि उनमें मुनियों का हाथ है।

वर्त्तमान काल की कई संस्थाओं में पोल चल रही है। स्वार्थत्यागी या लायक मनुष्यों की पहचान नहीं रही और जो उठा, वही संस्था स्थापित करने के लिये तैयार हो जाता है। ऐसे नये-नये संस्था पैदा करने वालों की परीक्षा किये विना ही, साधु लोग, उनसे नियम-विरुद्ध सहयोग करते और साधु-पने का ह्रास करते हैं। जैसे किसी साधु ने किसी से कहा, कि तुम अमुक काम में दस हजार रुपये दे दो या यों स्पष्ट न कह कर, किसी और तरीके से कहा और उसने दे दिये। साधु ने ये रुपये दिलाये हैं, अतः इन रुपयों के हिसाव-किताव की जिम्मेदारी साधु की भी हुई न? अव साधु उन रुपयों के खर्च की देख-रेख करे और हिसाब-किताव ठीक रखे या साधु-पने का काम करे? कितनी ही संस्था वाले, इस तरह लोगों से रुपये लाकर कुछ समय वाद संस्था ही वन्द करके वैठ गये हैं। अव जिन्होंने प्रेरणा करके रुपये दिलाये हों, उस साधु के जिम्मे भी जबावदारी आती है या नहीं?

जो काम श्रावक के करने योग्य हैं, वे श्रावक को और जो

साधु के करने योग्य हैं, वे साधु को करने चाहियें। साधु, यदि श्रावक के काम करने लगे, अर्थात् दिनभर रुपयों की चिन्ता व प्रेरणा करता रहे, तो वह आत्म-चिन्तन क्या करेगा ? ऐसी दशा में उसका साधुपना कैसे स्थिर रह सकता है ?

जिसमें थोड़ा आरम्भ और उपकार हो, ऐसे कार्य श्रावक लोग सदा से करते आये हैं। जैसे केशी महाराजा ने, चित-प्रधान से कहा था कि 'परदेशी राजा जब मेरे पास आता ही नहीं है, तो मैं उपदेश किसे दूं ?'

इससे मालूम होता है, कि राजा परदेशी को केशी महाराज के पास लाना श्रावकों का कर्तव्य था, साधुओं का नहीं। यदि यह साधुओं का कर्तव्य होता, तो केशी महाराजा ही किसी साधु को भेज कर उसे बुलाते। किन्तु परदेशी राजा को चित-प्रधान लाया था। मतलब यह कि साधु, साधुओं के योग्य और श्रावक, श्रावकों के योग्य कार्य करते आये हैं।

मेरे इन कथन का तात्पर्य यह नहीं है, कि संघ में ऐसे कार्य अर्थात् पाठशाला या गुरुकुल न हों, किन्तु मेरा कहना साधुओं से है, कि उन्हें इस पंचायत में न पड़ना चाहिये। श्रावक को उपदेश दे देना साधु का काम है। जैसे केशी-श्रमण ने राजा परदेशी को श्रावक बनाने के बाद कहा था कि 'राजा ! रमणीक से अरमणीक मत हो जाना।' इस पर से परदेशी ने स्वयं राज्य के चार भाग करके, एक भाग को दान में लगाना प्रारम्भ कर दिया। यह था केशी महाराज के उपदेश का ही परिणाम, परन्तु केशी महाराज ने स्पष्ट यह नहीं कहा, कि तुम ऐसा करो। उपदेश देने पर, श्रावक स्वयं अपने कर्तव्य को समझ लेगा; साधुओं को स्पष्टीकरण या आग्रह करने की और श्रावकों के पीछे हाथ धोकर पड़ जाने की आवश्यकता नहीं है। जिसकी शक्ति होगी और जिसकी श्रद्धा होगी,

वह अपने आप सब बातें समझेगा और उपकार करेगा। साधु, किसी को शर्म में डाले, यह बहुत ही अनुचित है।

यदि कोई साधु यह कहे, कि श्रावक लोग व्यवस्था करने तथा संस्था चलाने में असमर्थ हैं, अतः यदि हम संस्था का संचालन न करें, तो कार्य कैसे चले? इसका उत्तर यह है कि यदि वे इसी में संघ का कल्याण देखते हैं और अपने आप को बड़ा व्यवस्थापक मानते हैं, तो साधुपना दूषित न करके, श्रावक-पने में ही ये कार्य करें। फिर उनके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता ही न रहेगी।

यह नियम जो बिगड़ रहा है, इसके जिम्मेदार श्रावक लोग हैं। क्योंकि श्रावक लोग स्वयं, ऐसे नियम-विरुद्ध कार्य करने वाले साधुओं की सहायता करते हैं। इतना ही नहीं उनकी खोटी प्रशंसा करके, उनको अपने धर्म से गिराते हैं।

साधु को पढ़ना तो पड़ता ही है। यदि साधु लोग शब्द-ज्ञान एवं व्याकरणादि उच्च-विद्या न पढ़ें, तो ज्ञान, दर्शन और चरित्र का महत्व मूर्खता में जायगा। यदि अशिक्षित रहने के कारण साधु लोग शास्त्रों की शुद्ध व्याख्या या शास्त्र–पाठ का शुद्ध उच्चारण न कर सकें, तो भी धर्म की हानि होने की सम्भावना रहती है। क्योंकि आज परिस्थिति बदल गई है और हमें अपना संघ टिकाना है। इसलिये साधुओं को सब शास्त्रों में निपुण होकर, जैन-धर्म में प्रखर ज्योति फैलाना आवश्यक है। किन्तु, साधु पढ़-लिख कर तैयार हुए और वे विचारें, कि 'सम्प्रदाय-बन्धन में बैठे रहने पर हमको कौन मानेगा, इससे अलग हो जाना ही अच्छा है।' ऐसा सोचकर कोई साधु, सम्प्रदाय से अलग हो गया और स्वच्छन्दता से काम करने लगा। साधु को अविनीत होने पर, आचार्य ने तो छोड़ दिया, किन्तु आचार्य के छोड़ देने पर, श्रावक लोग उस साधु के सहायक बन गये और सम्प्रदाय-बन्धन न मानने या साधुपने के विरुद्ध आचरण

करने पर भी उसे पूजते रहे, तो क्या वह साधु, आचार्य की परवाह करेगा ? जो साधु, आज्ञा बाहर कर दिया जाय, उसे श्रावक पूजते रहें, तो यह आचार्य-पद की जड़ काटनी है, तो यह उनकी खुशी की बात है। किन्तु यह सदैव ध्यान रहे, कि ऐसे आज्ञा बाहर साधु के सहायक बन जाना, सघ-धर्म पर कुठाराघात करना है जो शिष्य आज्ञा बाहर कर दिये गये हैं, उनके यदि श्रावक लोग सहायक बनते रहेंगे, तो फिर कोई भी शिष्य गुरु-आज्ञा में नहीं रह सकता। प्रायः सभी स्वतन्त्र हो कर कहेंगे, कि इन साम्प्रदायिक बन्धनों की जरूरत नहीं है।

जो साधु, यह कहते हैं, कि हमें साम्प्रदायिक बन्धनों की जरूरत नहीं है, उनसे पूछना चाहिए. कि आपको जब साम्प्रदायिक-वन्धनों की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, तो फिर मुंह-पत्ती और वेश क्यों रखते हैं ? इसका उत्तर इसी अर्थ में होगा, कि बिना मुंह-पत्ती और वेश के हमारी पूजा कौन करे ? इसका यह मतलब हुआ, कि यह मुंहपत्ती और वेश, केवल पुजाने या रुपया इकट्ठा करवाने के लिये है, साधुपना पालने के लिये नहीं। इसके सिवा जिस साम्प्रदायिक-वन्धन के पालन करने से संघ-धर्म का टिकाव होता है, उसी की आवश्यकता मालूम न दे; तो फिर संघ में रहने की ही क्या आवश्यकता है ? यह भी साम्प्रदायिक-वन्धन ही है।

साम्प्रदायिक-बन्धनों की अनावश्यकता बतलाना, यह संघ-धर्म के नाश का चिह्न है। यदि इस पर श्रावक विचार न करेंगे, तो सब साधु स्वच्छन्द हो जावेंगे और अव्यस्था तथा विश्रृंखलता फैल जाने पर, न तो धर्म का ही महत्व रहेगा; न आचार्य-पद का ही गौरव। जब कोई एक नियम न होगा और सभी स्वतन्त्रतावादी हो जावेंगे, तो काम कैसे चलेगा ? यह बात आप ही लोग सोचें।

नेशनल-कांग्रेस का किया हुआ ठहराव, सारे भारतवर्ष का ठहराव है। यदि एक-एक मनुष्य उसमें दोप निकालने लगे, तो यह

कांग्रेस का अपमान है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है, कि वह कांग्रेस के ठहराव का ठीक तौर से पालन करे। * यदि इस बन्धन की जरूरत न समझ कर, हर आदमी अपनी—अपनी इच्छा के अनुकूल स्वतन्त्रता ढूंढे, तो राष्ट्र—धर्म या संघ—धर्म का निर्वाह होना कठिन हो जाय। ठीक इसी प्रकार, लोकोत्तर—सघ को भी समझना चाहिये। उसमें भी सघ के नियमों के विरुद्ध जो व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता ढूंढता है, वह संघ-धर्म का नाशक है। अस्तु।

सूत्र-चारित्र-धर्म, प्रत्येक व्यक्ति का अपना—अपना धर्म है, किन्तु संघ-धर्म तो सब का है। इसलिए पहले संघ-धर्म का ध्यान रखना पड़ता है। यदि सघ-धर्म न होगा, तो सूत्र-चारित्र-धर्म भी नष्ट हो जायगा। जैसे एक मनुष्य, अपनी सम्पत्ति की रक्षा तो करता ही है, किन्तु निवास-ग्राम न लुट जाय, इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। क्योंकि यदि ग्राम ही लुट गया, तो उसकी सम्पत्ति भी सुरक्षित नहीं रह सकेगी। इसी प्रकार, सूत्र-चारित्र-धर्म और संघ-धर्म का सम्बन्ध है। सूत्र-चारित्र-धर्म, एक मनुष्य की सम्पत्ति और संघ-धर्म गाँवभर की सम्पत्ति के समान है। यदि गांव की सम्पत्ति लुटी तो, एक मनुष्य अपनी सम्पत्ति कैसे सुरक्षित रख सकता है? इसी तरह जो मनुष्य अपने व्यक्तिगत धर्म को सुरक्षित रखना चाहता है, उसे संघ-धर्म की रक्षा का ध्यान पहले रखना चाहिये।

संघ-धर्म का इतना अधिक महत्व है, कि यदि साधु, विशिष्ट अभिग्रहादिक चारित्र-धर्म के सहायक किसी उत्कृष्ट निर्जरा-धर्म की साधना कर रहा हो और उस समय सघ को उसकी जरूरत हो, तो उसे वह साधना छोड़ कर संघ का कार्य करना चाहिये। इसके उदाहरण में, भद्रबाहु स्वामी की कथा देखिए। भद्रबाहु स्वामी, किसी समय एकान्त में योग-साधन करते थे। इधर संघ में ऐसा विग्रह

---

* यह अंग्रेजों के राज्य के समय का उपदेश है।

मचा, कि जब तक कोई तेजस्वी तथा प्रभावशाली पुरुष उसे शान्त न करे, तब तक उसका शान्त होना असम्भव प्रतीत होने लगा। संघ ने मिलकर निश्चय किया, कि भद्रबाहु स्वामी के बिना, विग्रह का समाधान न होगा। संघ ने उनको बुलाने के लिये, सन्तों को उनके पास भेजा, कि वे आकर संघ का विग्रह शान्त करें। सन्तों ने, भद्रबाहु के पास जाकर संघ का सन्देश कहा। सन्तों के मुंह से सारी कथा सुनकर, भद्रबाहु स्वामी ने उत्तर दिया, कि इस समय मैं योग में लगा हूँ, योग पूरा होने पर आऊँगा।

सन्तों ने लौट कर संघ को भद्रबाहुजी का उत्तर कह सुनाया। उत्तर सुन कर, संघ के लोग बड़े आश्चर्य में पड़े और सोचने लगे कि आज आचार्य के मन में यह क्या आई, कि उन्होंने केवल अपने कल्याण के लिये संघ की इस तरह उपेक्षा कर दी। बड़े सोच विचार के बाद, उन्होंने सन्तों को भद्रबाहुजी के पास फिर भेजा, और सन्तों ने वहां जाकर पूछा, कि संघ ने यह निर्णय चाहा है, कि संघ का कार्य और योग, इन दोनों में बड़ा कौन है और छोटा कौन है? अर्थात् आपका केवल अपने कल्याण के लिये योग करना बड़ा काम है, या वहां चल कर समस्त-संघ में फैले हुये विग्रह को शान्त करना?

यह सुन कर भद्रबाहु स्वामी, अपना अभिग्रह अधूरा छोड़कर संघ के पास आये और वहां आकर श्री संघ से क्षमा मांगी और कहा कि योग की अपेक्षा संघ का कार्य विशेष महत्व-पूर्ण है। यह कह कर, संघ में शान्ति स्थापित की।

जो लोग यह विचार करते हैं, कि 'मुझे क्या अटकी जो दूसरों की चिन्ता करूँ? मेरे घर में कुशल रहे और मेरी कुशल रहे, बाकी कुछ भी हो!' वे ऐसा विचारने वाले बड़ी भूल करते हैं। जिस ग्राम या देश में इस किस्म के मनुष्य रहते हैं, वह ग्राम या देश बिना गिरे नहीं रहता। भारत के मनुष्यों में, जब से ऐसे

विचार घुसे हैं, तभी से भारत, छिन्न-भिन्न हुआ है। अब यह भावना पलटती दिखाई देती है, सारा राष्ट्र एक हो रहा है, इससे सम्भव है। कि भारत की भी दशा सुधरे।

आज, जैन-संघ में भी यह भावना घुसी हुई है, कि अपना क्या अटका ? सन्तों की सन्त और श्रावकों की श्रावक जानें। मतलब यह, कि संघ का कार्य करने के समय टाल-टूल करते हैं। इधर उधर चाहे समय दें, किन्तु संघ की उन्नति के कामों में ध्यान नहीं देते। इसी से संघ का काम अपूर्ण है। संघ-कार्य के महत्व को यदि लोग समझने लगें, तो बड़ा कल्याण हो। भगवान् ने, सहधर्मी का क्लेश मिटा कर शान्ति कर देने में महा निर्जरा कही है।

भद्रबाहु स्वामी यह विचार कर आये थे, कि जो संघ न होता, तो मैं भद्रबाहु कैसे होता ? संघ-धर्म की रक्षा करनी अपनी ही रक्षा करनी है। किसी कवि ने कहा है :—

> धर्म एवं हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
> तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

अर्थात्—जो मनुष्य धर्म को नष्ट करता है, धर्म भी उसे नष्ट कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी धर्म भी रक्षा करता है। यह समझ कर, कि नष्ट किया हुआ धर्म हमें न नष्ट कर दे, कभी धर्म का नाश न करना चाहिये।

आज, संघ टुकड़े-टुकड़े हो गया है। उसका संगठान करना सब का कर्तव्य है; किन्तु इस ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता। एक छोटा-सा मण्डल, जिसके स्थापित हो जाने से हम सन्तों को यह सुभीता हुआ, कि संघ का कार्य वह कर लेता है, उसकी कीमत बहुत लोग आज भी नहीं समझते और तटस्थ रहने में ही आनन्द मानते हैं। यह नहीं सोचते, कि संघ-बल को एकत्रित करना और

वेग देना कितना लाभ-प्रद है।

सूर्य, इतना तपता है, फिर भी उससे आग क्यों नहीं लगती? इसका कारण यह है, कि उसकी किरणें बिखरी हुई रहती हैं। किन्तु उन किरणों को, एक विशेष प्रकार के कांच से एकत्रित करके उसके नीचे रूई रखो, तो आग लग उठेगी। इसी प्रकार संघ-बल भी बिखरा हुआ है। जब तक यह एकत्रित न किया जाय, तब तक संघ को किसी कार्य में सफलता मिलनी बहुत ही कठिन है।

यों तो किसी बुरे कार्य को करने के लिये भी कुछ मनुष्य सम्प करके अपना एक संघ बना लेते हैं, किन्तु वह संघ-धर्म नहीं है, वह तो संघ-अधर्म है। संघ-धर्म, अच्छे कामों के लिये बनाये जाने वाले संघ की संग्रह-शक्ति को ही कह सकते हैं। पाँच मनुष्य की भी शक्ति एकत्रित हो जाय, तो उन पांच से पांच हजार हो सकते हैं और बढ़ते २ संसार में एक आदर्श शक्ति हो सकती है।

दक्षिण-अफ्रिका में, भारतीयों को यूरोपियन लोग फुटपाथ पर तक न चलने देते थे और रेल्वे के फर्स्ट या सेकन्ड क्लास में बैठे हुये भारतीयों को, उसी दर्जे का टिकिट होने पर भी जबरदस्ती उतार कर थर्ड क्लास मे बैठा देते थे। घोड़ा-गाड़ी का टिकिट लेकर कोई भारतीय, गाड़ी में नहीं बैठ सकता था। गाड़ीवान के पास बाहर बैठने के लिये मजबूर किया जाता था। एक बार ऐसे ही मामले में गांधीजी ने बुरी तरह मार भी खाई है। परन्तु अकेले गांधीजी ने बिखरे हुये भारतीयों का संगठन किया, तो उन यूरोपियनों को मालूम हो गया, कि हां, भारतीयों में भी कोई शक्ति है। इस संगठित शक्ति ने, भारतीयों पर होने वाले अत्याचारों का सत्याग्रह द्वारा प्रतिकार किया और भारतीयों पर लगाये गये तीन पौण्ड के कर को भी बन्द करा दिया।

आप लोग, संघ का संगठन करें, तो संघ-बल से कोई काम

अशक्य न रहे। यदि आप लोग संघ-बल को विचारें, और उसके महत्व को भली-भाँति समझें तो कल्याण होने में संशय न रहे।

प्रकरण का सार:—संघ अपने धर्म का प्राण है। संघ-बल अपना धर्म-बल है। संघ-शक्ति अपनी धर्म-शक्ति है। जो धर्म की रक्षा करनी हो, धर्म को विकसित एवं विश्व-व्यापी बनाना हो तो संघ-बल की रक्षा व वृद्धि करनी चाहिए। जब समाज में संघ बल प्रगटेगा तब धर्म-विश्व में अपना महत्व पूर्ण स्थान प्राप्त करेगा। श्री नन्दी सूत्र के प्रारम्भ में, संघ का महत्व १९ उपमा देकर सूत्र-कार ने गाया है। ऐसे संघ-धर्म की छत्र-छाया में उपस्थित होकर साधु और श्रावक अपना-अपना कर्तव्य अदा करेंगे तब जैन-धर्म पूर्ण उन्नत बनेगा।

—:०:—

८ : सूत्र-धर्म

मोक्ष-प्राप्ति के लिये धर्म—रूपी रथ के, सूत्र और चारित्र-धर्म नामक दो पहिये हैं। ये दोनों ही, जीव को दुर्गति से बचा कर सुगति में पहुंचाने के हेतु हैं।

यहां कोई प्रश्न कर सकता है, कि जब सूत्र और चारित्र-धर्म का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, तो इन दोनों का पृथक्—पृथक् वर्णन क्यों किया गया? यह बात ठीक है, कि इन दोनों का बहुत

घनिष्ट सम्बन्ध है, किन्तु इतनी घनिष्टता होते हुए भी ये दोनों धर्म पृथक् हैं। क्योंकि इन दोनों धर्मों के आचार अलग-अलग हैं। सूत्र-धर्म में प्रवृत्त निवृत्ति प्रधान है और चारित्र-धर्म में प्रधान है।

सूत्र-धर्म, आधार और चारित्र-धर्म आधेय है। सूत्र-धर्म तो अकेला टिक सकता है, किन्तु चारित्र-धर्म बिना सूत्र-धर्म के एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। चारित्र-धर्म आने के पहले मनुष्य में समकित आदि सूत्र-धर्म आ सकते हैं। लेकिन सूत्र-धर्म के विना, चारित्र-धर्म नहीं आ सकता।

कुछ लोग चारित्र-धर्म को तो धर्म मानते हैं, किन्तु सूत्र-धर्म उनकी गिनती में ही नहीं है। सूत्र के तो केवल अक्षर पढ़ लेना ही पर्याप्त समझते हैं किन्तु सूत्र-धर्म का शास्त्र में इतना महत्त्व बतलाया है, कि इसकी यथाविधि आराधना करने से मनुष्य 'परित्त संसार' कर सकता है, अर्थात् संसार का उच्छेद कर सकता है। जैन-सिद्धान्त में सूत्र-धर्म यानि समकित-धर्म के आठ-आठ आचार बतलाये हैं:—

निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिग्छं अमूढदिठ्ठीय।
उववूह, थिरीकरणं, वच्छल्ल, पभावणेऽट्ठ ते ॥

'टीका—शक्कनं सङ्कितं—देश सर्वं शङ्कात्मकं तस्या भावो निः शङ्कितं, एवं कांक्षणं कांक्षितं—युक्ति युक्तत्वाद हिंसाद्यभिधयित्व च शान्योलूकादि दर्शनान्यपि सुन्दराण्ये वेत्यन्यान्य दर्शन ग्रहात्मकं तदभावो निष्कांक्षित, प्राग्यभयत्रदु, बिन्दुलोपः, विचिकित्सा फलं प्रतिसन्देहो यथाकि मियतः क्लेशस्य फलं स्यादुत नति ? तन्त्रन्यायेन 'विदः' विज्ञाः तेच तत्त्वतः साधव एव तज्जुगुप्सा या यथाकिममी यतयो मलदिग्धदेहाः ?, प्रासुकजलस्नाने हि क इव दोषः स्यादित्यादिका निन्दा तदभावो निर्विचिकित्सं निर्विजुगुप्सं वा आर्षस्वाच्च सत्र एवं पाटः 'अमूढः' ऋद्धिमत्कुतीर्थिक दर्शनेऽप्यनव विरहिता सा चासौ

दृष्टिश्च वुद्धिरूपा अमूढ़ दृष्टिः, स चायं चतुर्विधोऽप्यान्तर आचारः बाह्यं त्वाह—

'उववूह' त्ति, उपवृहणमुपवृंह—दर्शनादि गुणान्वितानां सुलब्ध जन्मानो यूयं युक्तं च भवादृशामिदमित्यादि वचोभिस्तत्तद् गुण परिवर्द्धनं सा च स्थिरीकरणं च अभ्युपगम (त) धर्मानुष्ठानं प्रति विषीदत्तां स्थैयापादनमुपवृंहास्थिरीकरणे, वत्सलभावो वात्सल्य साधर्मिकजनस्यभक्तपानादिनोचित्त प्रतिपत्तिकरणं ताच प्रभावना च-तथा स्वतीर्थोन्नति हेतुचेष्टासु प्रवर्त्तनात्मिक वात्सल्य प्रभावने, उपसँहार माह-अष्टैते दर्शन चारा भवन्तीतिशेषः एभिरवाष्टभिराचार्यप्राणस्यास्योक्त फल सम्पादकतेति भावः, एतच्च ज्ञानाचाराद्युपलक्षकं, यद्वा दर्शनस्यवैं यदाचाराभिधानं तदस्यैवोक्तन्यायन मुक्तिमार्ग मूलत्व समर्थनार्थ मिति सूत्रार्थः ॥

अर्थ—शङ्का करने को शङ्कित कहते हैं। देश से या सर्व से शंका के अभाव को निःशंकित कहते हैं। इच्छा करने का नाम कांक्षित है। युक्तियुक्त होने और अहिंसादि के प्रति पादक होने से वौद्ध-दर्शन तथा उलूकादि दर्शन भी अच्छे ही हैं, इस प्रकार अन्य दर्शनों में जो उपादेय वुद्धि है, उसके अभाव को निष्कांक्षित कहते हैं। विचिकित्सा यानी 'फल होगा या न होगा?' इस प्रकार संशय करना, अथवा ये साधु लोग मलीन देह होकर क्यों रहते हैं, यदि अचित जल से ये स्नान कर लें, तो क्या दोष होगा?' इस प्रकार साधुओं की निन्दा, विचिकित्सा है। उसके अभाव को, निर्विचिकित्सा कहते हैं। धनवान अन्य तीर्थों को देख कर तथा उनके आडम्बर को देख कर भी, मेरा दर्शन उत्तम ही है। ऐसी मोह-रहित जिसकी बुद्धि है, वह अमूढ़-दृष्टि कहलाता है। ये चारों व्यवहार अन्तर-व्यवहार हैं। अब वाह्य-व्यवहार कहे जाते हैं। उत्साह-वृद्धि का नाम उपवृंहा है। जैसे कि सम्यक्त्वादि-गुणों से युक्त पुरुषों के गुणों को

यह कह कर बढ़ाना, कि 'आपका जन्म सफल है, आप लोगों के सदृश पुरुषों के लिये यह कार्य उचित ही है।' इस प्रकार उनके उत्साह को बढ़ाना अपबृंहा कहलाती है। (स्थिरीकरण) अर्थात् स्वीकार किये हुये धर्म के अनुष्ठान करने में विषाद करते हुये पुरुष को स्थिर बनाना, स्थिरी-करण कहलाता है। (वात्सल्य) अपने सहधर्मी-जन को भात–पानी आदि उचित सहायता करना, वात्सल्य है। (प्रभावना) अपने धर्म की उन्नति की चेष्टा में प्रवृत्ति होना, प्रभावना कहलाती है। ये आठ, दर्शन के आचार होते हैं। इन आठों का आचरण करने वाला पुरुष, बतलाये हुये फल का सम्पादक होता है। यह (आचार) ज्ञानाचार आदि का भी उप-लक्षण है। अथवा दर्शनाचार ही मुक्ति-मार्ग के मूल हैं, यह समर्थन करने के लिये इन्हीं (दर्शनाचार) का कथन किया गया है।

उपरोक्त आठ आचार, सूत्र-धर्म के हैं। इनमें सब से प्रथम आचार यह है, कि निःशंक बनो। इसका यह अर्थ है, कि जो मनुष्य श्रद्धा में या किसी और धार्मिक-कार्य में सन्देह रखता है, वह निश्चय को नहीं पहुंच सकता।

साहित्य में, संशय के लिये दो प्रकार की बातें कही गई हैं। एक स्थान पर कहा है :—

'न संशय मनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।'

अर्थात्—जब तक मनुष्य शंका पर आरोहण नहीं करता, तब तक उसे अपना कल्याण मार्ग दिखाई नहीं देता।

दूसरे स्थान पर कहा है—

'संशयात्मा विनश्यति'

अर्थात्—संशय करने वाले का ज्ञानादि आत्मा, नष्ट हो जाता है।

ये दो विरोधी बातें क्यों कहीं गईं? यदि संशय खराब है, तो शास्त्रों में कई स्थान पर यह क्यों आया है, कि 'जाय-संशय'

अर्थात् गौतमादि गणधरों को सन्देह उत्पन्न हुआ। और यदि संशय अच्छा है, तो शास्त्र में संशय को समकित का दोष क्यों कहा गया है ?

इसका समाधान यह है, कि जैसे—जिस मकान के नीचे बैठे हैं, इसकी ऊँचाई, नीचाई या यह गिरने वाला तो नहीं हैं, यह देख लेना तो हर एक का कर्तव्य है, कन्तु केवल 'कहीं यह मकान गिर पड़ा तो ?' इस भय से मकान में या मकान के नजदीक ही न होना उचित नहीं है। इसी दृष्टान्त से, छद्मस्थावस्था तक केवली की अपेक्षा से कुछ बिना जाना रहता ही है, उसको जानने के लिये संशय करना, वह संशय तो लाभ-दाता है, उसमें दोष नहीं; परन्तु जो पुरुष, भीतर ही भीतर संशय रख कर उसमें डूबा रहता है, निर्णय नहीं करता, वह 'संशयात्मा-विनश्यति' का उदाहरण बन जाता है।

आप लोग जानते हैं, कि कभी-कभी रेल उलट जाती है, जहाज डूब जाते हैं और उनमें बैठने वालों की क्षति हो जाती है। किन्तु ऐसा सदैव नहीं होता, कभी हो जाता है। अब यदि कोई गृहस्थ यह सोच कर, कि रेल और जहाज में बैठने वाले मर जाया करते हैं, कभी इनका उपयोग न करे, तो क्या उसकी यह शंका उचित है ?

'नहीं'।

केवल आपत्ति के भय से ही किसी काम से दूर रहना, बुद्धि-मत्ता नहीं है। कार्य करते समय, हानि-लाभ का विचार अवश्य रखना चाहिए, किन्तु प्रारम्भ से ही किसी काम को, शंका की दृष्टि से न देखना चाहिये।

मनुष्य, निर्णयात्मक-दृष्टि से जितना अधिक तर्क करता है,

उसे उतना ही गहरा रहस्य मिलता है, किन्तु कोई मनुष्य यही शंका करके रह जाय, कि 'कौन जाने परमात्मा है या नहीं ? या ये साधु हैं या, नहीं, और इनके बताये उपायों से परमात्मपद मिलेगा या नहीं ? इत्यादि शंकाएं करके जो मनुष्य धर्म और ईश्वर पर विश्वास नहीं लाता, और प्रति-क्षण अपने हृदय में शंका को स्थान दिये रहता है, उसका आत्मा, ज्ञान-दृष्टि से निश्चित ही नष्ट हो जाता है ।

कोई यह कहे, कि 'हम जैन-शास्त्रों को सत्य मानें और उस पर शंका न करें, इसके लिये क्या प्रमाण है ?' यह प्रश्न बिलकुल ठीक है, किन्तु पांच और पांच कितने होते हैं ?

'दस'

और यदि कोई एम० ए० पास आदमी कह दे, कि ५ और ५ ग्यारह होते हैं, तो क्या आप मानेंगे ?

'कभी नहीं ।'

किन्तु वह कहे, कि मैं एम० ए० हूँ, अतः मेरी बात प्रमाण है, तो आप उसे क्या उत्तर देंगे ? यही न कि हमारा अनुभव है, इसलिये हमें अच्छी तरह विश्वास है, कि ५ और ५ दस ही होते हैं । जो तुम हमें ग्यारह बतला कर सन्देह में डाल रहे हो, यह बात हम कदापि स्वीकार नहीं कर सकते । तुम खुद गलती पर हो ।

जिस प्रकार ५ और ५ दस होते हैं, यह बात प्रत्येक मनुष्य जानता है, उसी प्रकार जैन-धर्म के सिद्धान्त भी सरलता-पूर्वक समझ में आ सकते हैं और उनकी सत्यता भी बहुत जल्दी मालूम हो जाती है । अर्थात् लगभग सब बातें अपने अनुभव की हैं, प्रत्येक मनुष्य यह बात समझता है, कि जो धर्म हिंसा का प्रतिपादन करता है, वह धर्म, धर्म ही नहीं है । अब आप यह बतलाइये कि जैन-

धर्म हिंसा का प्रतिपादन करता है या अहिंसा का ?

'अहिंसा का ।'

आप से यदि कोई मनुष्य धोखा देकर कुछ छीन ले, तो आप उसे धर्मी कहेंगे या अधर्मी ?

'अधर्मी' ।

बिना सीखे, केवल अनुभव से ही प्रत्येक मनुष्य कह सकता है कि ऐसा करना अधर्म है । जैन-धर्म के सिद्धान्त भी, ऐसे ही अनुभव-सिद्ध हैं । उनकी सत्यता के लिये प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है । अपने आत्मा का अनुभव ही इसका प्रमाण है ।

यदि कोई यह कहे, कि 'जिन्होंने अहिंसा को धर्म बताया है, उनका बताया हुआ भूगोल-खगोल, आधुनिक भूगोल-खगोल में नहीं मिलता, फिर तुम उन्हें सर्वज्ञ क्यों मानते हो !' तो इसका उत्तर यह है, कि हमने उन्हें भूगोल-खगोल रचने के कारण, परमात्मा नहीं माना है, बल्कि 'अहिंसा' के कारण परमात्मा माना है । अब भूगोल-खगोल क्यों नहीं मिलता, इसके लिये हमारे पास कोई ऐसा साधन नहीं है, जिससे हम यह बतला सकें, कि उन्होंने भूगोल-खगोल की रचना किस विशिष्ट विचार से की है । परन्तु अहिंसा का सिद्धान्त जो अनुभव में सत्य और पूर्ण कल्याणकारी है, उस पर से कह सकते हैं, कि अहिंसा सिद्धान्त को मानने वाले, कभी झूठ नहीं बोल सकते ।

अहिंसावादी, थोड़ा भी असत्य कहना, आत्मा का घात करना समझता है । पूर्ण अहिंसावादी, आत्मा का घात, जो हिंसा है कैसे करेगा ? अतः यह प्रश्न होता है, कि फिर उन्होंने जो भूगोल-खगोल रचा है, वह प्रचलित भूगोल-शास्त्र के सन्मुख, सत्य क्यों नहीं प्रतीत होता ? इसके लिये एक उदाहरण देते हैं:—

हवा को थैली में भरकर, यदि सोना-चांदी तौलने के साधनों से तोले, तो हवा का कोई वजन मालूम नहीं होता। किन्तु वैज्ञानिकों का कथन है, कि वायु में भी वजन है और वह वजन तोल में आता है। हमें, हवा बिना वजन की मालूम होती है, इसका कारण यह है, कि हमारे पास उसे तौलने के साधन नहीं हैं। इसी प्रकार हमारा भूगोल जिस सिद्धान्त पर बताया गया है, उसे सिद्ध करने के लिये हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं। यदि साधन होते, तो प्रमाणित किया जा सकता था, कि अमुक-सिद्धान्त पर इस भूगोल की रचना की गई है।

हमारे यहाँ भूगोल में, चौदह राजलोक की स्थिति, पुरुषाकार बताई है। यदि, कोई मनुष्य, इस लोक-स्थिति का प्रतिदिन एक-एक घण्टा ध्यान करे, तो छः महीने के वाद, वह स्वयं कहेगा, कि इसमें अपूर्व आनन्द भरा है। मुझे थोड़ा सा अनुभव है, फिर भी मैं कह सकता हूँ, कि इसमें बड़ा आनन्द है, तो जो विशिष्ट-ज्ञानी हैं, उन्हें इस लोक-स्थिति के ध्यान से कैसा आनन्द होता होगा?

इससे सिद्ध है, कि जिन्होंने जैन-सिद्धान्त और जैन-शास्त्रों की रचना की है, वे सर्वज्ञ थे। उनके कहे हुए प्रत्येक शब्द में बड़ा गूढ़-रहस्य है। यह बात दूसरी है, कि उनकी सब बातें समझने में हमारी बुद्धि असमर्थ है।

एक प्रश्न, जो दुनिया उठाती है, वह यह है, कि यदि अहिंसा कल्याण करने वाली है, तो जैनों की अवनति क्यों हो रही है? बात है तो सत्य। क्योंकि अवनति वास्तव में हो रही है। जिस भारत में अहिंसा के पालने वाले बहुत हैं, चाहे और बातों में भेद हो, किन्तु शैव, वैष्णव आदि सबने 'अहिंसा परमो धर्मः' माना है—उस भारत की आज अवनति क्यों है? इसका उत्तर यह है, कि

अहिंसा—धर्म कर्तव्यमय है। इसका पूरा पालन करने वाले थोड़े बल्कि नाम—मात्र को हैं। अहिंसा—धर्म का पालन करना वीरों का काम है और आज, मनुष्यों में डर घुसा हुआ है। जो मनुष्य डरने वाला है, वह अहिंसा-धर्म का पालन कदापि नहीं कर सकता। लोग केवल नाम के अहिंसावादी बन जावें किन्तु उसका पालन न करें और कूड़—कपट में पड़ें, तो यह अहिंसा-धर्म का पालन नहीं कहा जा सकता और यह निश्चित है, कि जब तक मनुष्य भली—भांति अहिंसा का पालन करना नहीं सीखते, तब तक उन्नति कदापि नहीं हो सकती।

यहां, कोई यह शंका कर सकता है, कि जब बिना अहिंसा का सिद्धान्त पाले उन्नति नहीं हो सकती, तो यूरोप की उन्नति हिंसा करते हुए भी क्यों? किन्तु यूरोप की यह दिखाऊ भौतिक-उन्नति वास्तविक उन्नति नहीं, बल्कि भयंकर रोग है। भारतवर्ष में, अहिंसा का जितना संस्कार आज शेष है, उसके प्रभाव से जैसी अच्छी बातें अधिकतर भारतीयों में है, वैसी संसार में और कहीं नहीं है। भारत-वर्ष के केवल पति—पत्नी धर्म को ही लीजिये। इसके मुकाबले में अमेरिका का पति—पत्नी धर्म कितना गिरा हुआ है, यह देखना चाहिये। सुना गया है कि अमेरिका में प्रायः ९५ प्रतिशत विवाह-सम्बन्ध टूट जाते हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष आज भी गरीब मनुष्यों को जैसा सुख दे सकता है, उतने प्रमाण में वहां के गरीबों को सुख नहीं मिलता। मैं घाटकोपर (बम्बई) में था, तब सुना था कि भारत के एक अमेरिका गये हुये सज्जन का पत्र आया है, उसमें उन्होंने लिखा है कि 'अमेरिका के निम्न-श्रेणी के मनुष्यों की आर्थिक-स्थिति, निम्न-श्रेणी के भारतीयों की अपेक्षा बहुत बुरी है। वहां के गरीब प्रायः अखबार तक ओढ़ने—बिछाने के काम में लेते हैं।'

कुछ मनुष्य तो अरब-पति हैं और कुछ ऐसे हैं, जिन्हें ओढ़ने-

बिछाने को भी नहीं मिलता, इसे सुधार या उन्नति कहना उचित नहीं है। प्रत्येक प्राणी को अपने आत्मा के समान समझकर कूड़-कपट न करे, यह वास्तविक-उन्नति है। यदि यह कहा जाय, कि वह वैषम्य ही वास्तविक उन्नति है अर्थात् गरीबों के जीवन-मरण का विचार न करके, प्रत्येक सम्भव उपाय से धन खींच कर तिजोरी भर लेना ही उन्नति है, तो यह भी मानना पड़ेगा, कि जो मनुष्य दगा करके धन एकत्रित करता है, वह भी उन्नति कर रहा है। किन्तु इस तरह दगा-फाटका करके धन छीनने को उन्नति मानना उन्नति का अर्थ नहीं समझना है। एक अहिंसावादी, चाहे मर जाय, किन्तु अन्याय-पूर्वक किसी का धन या प्राण हरण नहीं करता और एक दूसरा मनुष्य किसी को मार कर अपना मतलब सिद्ध करे, इन दोनों में आप उन्नत किसे समझते हैं ?

'अहिंसावादी को।'

अहिंसा-धर्म का रहस्य ठीक-ठीक न समझने, अथवा अहिंसा-वादी कहलाकर भी बुरे कार्य करने से, अवनति न हो, तो क्या उन्नति हो ? आज मन्दिरों, तीर्थों और धर्म-स्थानों में, धर्म के नाम पर कहीं-कहीं जो अत्याचार हो रहें हैं, क्या इन सब कुकर्मों का फल मिले बिना रहेगा ? भारतवर्ष, आज अपने कर्मों से ही अवनति के गढ़े में गिरता जा रहा है। अब तक, मनुष्यों में जो सत्य, शील आदि गुणों का कुछ अंश शेष है, वह सब पूर्वजों के प्रताप से ही है। आज तो केवल पूर्वजों की एकत्रित की हुई धर्म-सम्पत्ति को व्यय कर रहे हैं, कुछ नया काम कर उसमें नहीं जोड़ते। आज भी जितने मनुष्य अहिंसा-पालन का तप, जितने प्रमाण में करते है, उतने प्रमाण में वे संसार को कल्याण-मार्ग पर लगाते और विघ्नों को दूर हटाते हैं।

कोई यह कहे, कि जैन-धर्म में दो प्रकार की अहिंसा की व्याख्या क्यों मिलती है ? जैसे दूसरा पक्ष कहता है, कि 'न मारना

तो अहिंसा है, किन्तु किसी मरते जीव को बचाना पाप है, यह क़ौनसा न्याय है ? इसका उत्तर यह है, जिनको अहिंसा का अर्थ मालूम नहीं है, वे चाहे जो कहें, किन्तु यह बात दुनिया जानती है, कि अहिंसा शब्द हिंसा का विरोधी है। जिसमें हिंसा का विरोध हो, वह अहिंसा है और जिसमें अहिंसा का विरोध हो, वह हिंसा है। मान लीजिये, कि एक मनुष्य दूसरे निरपराधी मनुष्य को तलवार से मार रहा है। अब एक तीसरे मनुष्य ने उपदेशादि से उसे रोका, तो यह हिंसा का विरोध हुआ न ?

'हां'

यह बात पहले ही कही जा चुकी है, कि हिंसा का विरोध अहिंसा है। अतः जो मनुष्य हिंसा रोकता है, अर्थात् हिंसा का विरोध करता है वह निश्चित ही अहिंसक है। कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य यह बात नहीं कह सकता, कि रक्षा करने वाला हिंसक या पापी है।

रावण, सीता का शील हरण करने को तैयार था, और विभीषण ने उसे रोका, तो कुशीला कौन है ?

'रावण'

और विभीषण ?

'शीलवान है।'

यदि कोई मनुष्य यह कहने लगे, कि सीता का शील बचाने के कारण विभीषण कुशीला हो गया, तो क्या उसका यह कहना न्याय है ?

'नहीं'

जब ऐसा है, तो जो मनुष्य 'मत मार' कहता है, उसे हिंसक ताना या पाप लगाना क्या उचित है ?

'नहीं'

जो मनुष्य अहिंसा का यह अर्थ करते हैं, कि केवल न मारना अहिंसा है, बचाना हिंसा है, वे गलती करते हैं। अहिंसा-धर्म, संसार का सर्वोत्तम धर्म है। यह बिलकुल स्वाभाविक और आत्मानुभव से सिद्ध धर्म है। इसमें सन्देह करने को गुन्जायश ही नहीं है!

सारांश यह, कि प्रत्येक बात को देख लेना चाहिये कि वह कहां तक सत्य है। सन्देहादि, निर्णयात्मक बुद्धि से दूर कर लेने चाहिएं; किन्तु ऐसे सन्देह न करने चाहिएं, कि 'न मालूम धर्म नाम की कोई चीज है या नहीं! अथवा अच्छे कार्यों का फल मिलेगा या नहीं! या ईश्वर है या नहीं! किंवा साधु के पास जाने से लाभ होगा कि नहीं!' आदि। जो मनुष्य इस प्रकार के सन्देह करता है, उसका आत्मा ज्ञान—दृष्टि से नष्ट हो जाता है और जो निर्णयात्मक-बुद्धि से अपनी शंकाओं का निवारण करता है, वह भद्र कल्याण-मार्ग पाता है।

इच्छा करने का नाम कांक्षा है। अन्य धर्म का दर्शन या धार्मिक-क्रिया देख कर, उसे ग्रहण करने की इच्छा का नाम कांक्षा है। 'अन्य धर्मावलम्बी भी अहिंसा को धर्म कहते हैं और कई एक बातें उनकी युक्ति-युक्त भी हैं, अतएव मैं अपने धर्म को छोड़ कर उनका धर्म धारण कर लूं तो क्या हानि है?' इस प्रकार अन्य दर्शनों के प्रति जो उपादेय-बुद्धि होती है, उसको कांक्षा कहते हैं। ऐसी उपादेय-बुद्धि न रखने का नाम, निर्कांक्षित है।

समदृष्टि को निर्कांक्षी होना आवश्यक है। क्योंकि यद्यपि ऊपर से बौद्धादि दर्शनों की बहुत सी बातें जैन-दर्शन के समान दिखाई देती हैं, किन्तु पूर्वापर विरुद्ध होने से उनकी वे बातें यथार्थ सत्य नहीं हैं। सम-दृष्टि को सर्वज्ञ प्रणीत धर्म के सिवा, असर्वज्ञों

के कथन किये हुये दर्शनों की कांक्षा करना कैसे उचित हो सकता है ? अतः निकांक्षा, समकित का आचार माना गया है।

विचिकित्सा, यानी फल के प्रति सन्देह करना। कोई मनुष्य यह सोचे, कि "मैं धर्म पालने में इतना परिश्रम कर रहा हूँ, इसका फल मिलेगा या न मिलेगा ! अथवा ये साधु लोग अपनी देह मैली क्यों रखते हैं ? यदि अचित जल से स्नान कर लें, तो क्या दोष होगा ? इस प्रकार का विचार करके साधु लोगों की निंदा करना यह विचिकित्सा है। विचिकित्सा के अभाव को, निर्विचिकित्सा कहते हैं।

अन्य धर्मावलम्बियों को ऋद्धि-सम्पन्न देख कर भी जिसके मन में ऐसा व्यामोह पैदा न हो, कि "यह ऋद्धि-सम्पन्न है, इससे इसका धर्म श्रेष्ठ है और मैं अल्प-ऋद्धि हूँ, इसलिये मेरा धर्म कनिष्ट है।" यह अमूढ़-दृष्टि नामक समकित का आचार है।

अमूढ़—दृष्टि का एक अर्थ और है जो यह है कि:—

किसी की बाहरी सिद्धि देख कर, जो मनुष्य हृदय में यह विचार लाता है, कि "ये गुरु तो चमत्कार नहीं दिखलाते और उस धर्म के गुरु चमत्कार दिखलाते हैं,' यह मूढ़-दृष्टि है। ऐसी मूढ़-दृष्टि न रखना ही अमूढ़-दृष्टि आचार है।

उपरोक्त चार आचार, आन्तरिक हैं। यानि हृदय से होने वाले आचार हैं। एवं दोष-निवृत्यात्मक है। अब बाह्याचार अर्थात् बाहरी आचारों का वर्णन किया जाता है।

किसी के धार्मिक-उत्साह को बढ़ाने का नाम उपवृंहा है। जैसे—कि ज्ञान-दर्शनादि उत्तम गुणों से युक्त पुरुषों के गुणों को यह कह कर बढ़ाना, कि "आपका जन्म सफल है, आप लोगों के सदृश पुरुषों के लिये ऐसे कार्य ही उचित हैं।' इस प्रकार उनके उत्साह की वृद्धि के लिये उन्हें सराहना, उपवृंहा करना है।

स्वीकार किये हुए सत्य-धर्म के पालन करने में विषाद करते हुए, यानी डांवाडोल होते हुए पुरुष को स्थिर बनाना, इसका नाम स्थिरीकरण है। स्थिर करना, दो प्रकार से होता है। एक तो, धर्म से डिगनेवाले को उपदेश देकर स्थिर करना और दूसरा, असहाय को सहायता देकर स्थिर करना।

कोई यह कह सकता है, कि असहाय को सहायता देने में तो कई आरम्भ होना असम्भव है, परन्तु आरम्भ को समदृष्टि आरम्भ मानता है, तथापि सहायता के द्वारा जो पुरुष धर्म में स्थिर हुआ, वह तो समकित का आचार ही है। उसमें कोई पाप नहीं, बल्कि धर्म है। किसी को स्थिर करना समकित का आचार है और ऐसा करने से धर्म की वृद्धि होती है।

वात्सल्य में, बड़ा गम्भीर विचार है। जैसे—एक श्रावक के लड़की हुई और उसने यह सोचा कि 'इसका विवाह तो करना ही है, किन्तु इसका यदि किसी सहधर्मी से विवाह हो जाय तो अच्छा हो। क्योंकि, जो धर्म मिलना कठिन है और जिस पर श्रद्धा होने से मुझे अलौकिक-आनन्द मिलता है, वैसा ही आनन्द इसे मिले और धर्म की ओर इसकी रुचि बढ़ती रहे।' यह वात्सल्य गुण है। कोई चीज बाजार से खरीदनी है, किन्तु वह सहधर्मी की ही दुकान से ली अथवा एक नौकर रखना है, तो सहधर्मी को ही रखा और यह विचार कि "यह सहधर्मी है, अतः नौकर का नौकर हो जावेगा और धर्म सहायता भी मिलेगी।' यह वात्सल्यता है। इसलिये विवाहादि सम्बन्ध में भी, सहधर्मी—वात्सल्य का विचार हो सकता है। जहां भिन्न विचार वाले, भिन्न धर्मावलम्बी पति—पत्नी या स्वामी—सेवक होते हैं, वहाँ बहुधा विचारों की असमता होती है और उसका परिणाम किसी-किसी समय बड़ा भयंकर होता है। अतएव समान धर्मवाले से सम्बन्ध रखने में, समकितादि गुणों की वृद्धि होना

सम्भव है। सारांश यह, कि अपने सहधर्मी मनुष्य को देखकर प्रेम हो और उसकी भात-पानी आदि से उचित सहायता की जावे, इसका नाम वात्सल्य है। यह भी समकित का आचार है।

वात्सल्यगुण बहुत बड़ा है। इसका जितना विचार किया जाय, उतना ही थोड़ा है।

अपने धर्म की उन्नति की चेष्टा में प्रवृत्ति होना, प्रभावना कहलाती है। अथवा यों कहना चाहिये, कि जिस कार्य के करने से जैनधर्म देदीप्यमान हो, उसे प्रभावना कहते हैं।

सुना जाता है, कि पहले करोड़ों जैनी थे। ये लोग तलवार के बल पर या डरा धमका कर जैनी नहीं बनाए गये थे, किन्तु उस समय के जैनियों के वात्सल्य और प्रभावना गुण से प्रभावित होकर, अन्य धर्मावलम्बी लोग भी जैन धर्मानुयायी होकर, जैन धर्म का पालन करने लगे थे। आज भी यदि जैन कहे जाने वाले भाई, अपने चरित्र को ऊँचा रखें और वात्सल्य तथा प्रभावना गुण को बढ़ावें, तो संसार पर जैन धर्म का प्रभाव अवश्यमेव पड़े। यदि जैनी भाई अपने आचार-विचार को शुद्ध रखें और अन्य लोगों से सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करें, तो लोग निश्चित ही जैन-धर्म की ओर आकर्षित होंगे, जिससे तीर्थंकरों का मार्ग दीपेगा। इसी वास्ते सूत्र ठाणांग के चौथे ठाणे में कहा है, कि प्रवचन-प्रभावना के वास्ते पात्र-अपात्र दोनों को दान देने वाला दाता तीसरे भंग का दातार है। इससे स्पष्ट है, कि अपात्र को दान देने से भी तीर्थंकर के मार्ग की प्रभावना होती है अर्थात् दान-पुण्य के प्रभाव से, अपात्र यानी सूत्र-चारित्र-धर्म से विहीन, जो सामान्य प्रकृति का मनुष्य है, उसे भी दान यानी सहायता देकर जैन-धर्म का अनुयायी बनाना, तीर्थंकर के मार्ग को दिपाना है और तीर्थंकर के मार्ग को दिपाने का, शास्त्रों में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट फल यह बताया है, कि तीर्थंकर

पद की प्राप्ति होती है। यह भी देखा जाता है, कि किसी अन्धे, लूले, लंगड़े, असहाय को पात्र का विचार न करके दान देने से, संसार पर जैन-धर्म का प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव पड़ना भी, जैन-धर्म की प्रभावना है।

जो मनुष्य, दान देने को पाप कहते हैं समझना चाहिये कि उन्होंने प्रवचन-प्रभावना का अर्थ ही नहीं समझा है।

ये आठ आचार सूत्र-धर्म के हैं। इन आठों का आचरण करनेवाला पुरुष, बतलाये हुए फल का सम्पादक होता है। यही आठ आचार चारित्र-धर्म के भी उपलक्षक हैं। इन्हीं के पालन करने से चारित्र-धर्म की उत्पत्ति होती है अथवा यों कहना चाहिए, कि यही आठ आचार मुक्ति-मार्ग के मूल हैं।

प्रकरण का सार—सूत्र धर्म मोक्ष-महल की नींव है। नींव दृढ़ होती है तो उसका ऊपरी भाग भी सुदृढ़ बन जाता है, बिना नींव के महल का ऊपरी भाग स्थिर नहीं रहता। निरतिचार सम्यक्त्व (सूत्र धर्म) आराधनेवाला अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करता है। अतः दर्शनाचार के आठों अंगों का सेवन करो।

९ : चारित्र-धर्म

"ज्ञान क्रियाभ्यांमोक्षः" ज्ञान और ज्ञान का साथी दर्शन यानी सूत्र-धर्म के साथ ही क्रिया, यानी ज्ञान करके जो तत्व जाना है और दर्शन द्वारा जिस पर विश्वास (श्रद्धा) किया है उसको क्रिया द्वारा आचरण में लाना, इसी को चारित्र-धर्म कहते हैं। चारित्र-धर्म की व्याख्या जैन-सिद्धान्तों में विस्तार-पूर्वक की गई है, परन्तु प्रकरण के प्रसंग से यहां संक्षेप में दिग्दर्शन कराना ज़रूरी है।

चरित्त धम्मे दुवि है पन्नते तंजहा।
अणगार चरितधम्मे आगार चरितधम्मे य ॥

(श्री ठाणांग सूत्र)

भावार्थ—चारित्र-धर्म दो प्रकार का कहा गया है। यथा गृह त्यागियों का चारित्र-धर्म और गृहस्थों का चारित्र-धर्म ।

जो पूर्णतया त्रिकरण-त्रियोग से अहिंसा, सत्य, अदत्त, ब्रह्मचर्य और अकिंचन-रूप पांच महा-व्रत धारण करे और भिक्षावृत्ति द्वारा अपना जीवन निर्वाह करे, वे अणगार कहलाते हैं। उनको आचरण करने योग्य धर्म दस प्रकार का बताया है, यथा—

दसविहे समणधमेपन्नत्तो तंजहा—

खन्ति, मुत्ति, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संयमे, तवे, चियाए, अबम्भचेरवासे ।

भावार्थ:—उन गृह-त्यागियों का धर्म दस प्रकार का है।

यथा—(१) क्षमा (२) निर्लोभता (३) आर्जव (सरल कपट रहित) (४) मार्दव (अहंकार रहित) (५) लाघवता (६) सत्य (७) संयम (८) तप (९) त्याग (विरक्ति) (१०) ब्रह्मचर्यवास

उपरोक्त दस बातों का सेवन करने वाला यानी आचरण में उतारने वाला ही अनगार धर्म की आराधना कर सकता है।

गृहस्थ—धर्म

जो गृह-त्याग करके पूर्णतया अहिंसादि को आचरण में नहीं ला सकते। किन्तु गृहस्थावास में रह कर चारित्र-धर्म का आचरण करना चाहते हैं। उनके भी दो भेद हैं।

तत्रच गृहस्थ धर्मोऽपि द्विविधः। सामान्यतो विशेषतश्चेति ॥

गृहस्थ धर्म भी दो प्रकार का है। सामान्य धर्म, विशेष-धर्म। सामान्य धर्म यानी समकिती श्रावक और विशेष धर्म में सम्यक्त्व सहित द्वादशव्रती श्रावक। सामान्य-धर्म पालने वाला सम्यक्त्व सहित नैतिक-धर्म का आचरण करे। जैसे—

१—न्याय-पूर्वक अपनी प्रवृत्ति करना, अन्याय त्यागना।

२—यह लोक और परलोक नहीं बिगड़े इस तरह न्याय-पूर्वक द्रव्योपार्जन करे किन्तु बिना हक का किसी से न लेवें।

३—समानकुल—समान वय और समानशील वाली अपनी पत्नी में ही सन्तोष करे। पर-स्त्री की तरफ बुरी दृष्टि भी न डाले।

४—अपनी आमदनी के अनुसार ही खर्च करे, जिससे द्रव्य-प्राप्ति के लिये अनुचित विचार न करने पड़े।

५—जहां उपद्रव की सम्भावना हो, उस स्थान से बचता रहे।

६—प्रसिद्ध देशाचार या शिष्टाचार का पालन करे।

७—माता-पिता एवं गुरुजनों का आदर तथा विनय करे।

८—शरीर की निरोगता का ध्यान रखता हुआ, शुद्ध पथ्य-कारी भोजन करे, किन्तु अभक्ष्याचरण न करे।

९—शौच, व्यायाम, निद्रा और भोजन यथा समय उचित रूप से करे। आलस्य न बढ़ने दे।

१०—शरीर शुद्ध स्वच्छ और स्फूर्तिला बनाये रखने के लिए स्नानादि करे किन्तु पानी का दुरुपयोग नहीं करे।

११—अपने कुल व देश के अनुरूप शरीर रक्षा के लिये वस्त्रादि पहने, परन्तु लज्जा न रह सके वैसे वस्त्र काम में न ले।

विशेष धर्म अंगीकार करने वाला गृहस्थ सम्यक्त्व सहित श्रावक के द्वादश व्रत अंगीकार करे, जो इस प्रकार है।

१—स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत—जिसमें जान कर, देख कर संकल्प-पूर्वक, दुष्ट-बुद्धि से त्रस जीव की हिंसा का त्याग करे।

२—स्थूल मृषावाद विरमण व्रत—जिसमें अनर्थ निपजे, प्रतिष्ठा जाय एवं राज्य और पंच का गुनहगार हो, वैसे झूठ का त्याग करे तथा सत्य का ही सेवन करे। क्रोध, लोभ, भय या हास्यवश असत्य भाषा न बोले।

३—स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत—जिसमें अनीति-पूर्वक बिना हक का द्रव्य न लेने का यानी चोरी, लूट आदि का त्याग करे।

४—स्वदार सन्तोष, परदार परित्याग व्रत—जिसमें पर-स्त्री का त्याग करे। किन्तु स्व:स्त्री में भी वीर्य का दुरुपयोग न करे।

५—परिग्रह परिमाण व्रत—जिसमें परिग्रह का परिमाण (मर्यादा) करके सन्तोष-वृत्ति को पोषण दे।

६—दिसिविरमण व्रत—छःहों दिशा में गमनागमन का परिमाण कर अनावश्यक भ्रमण की लालसा रोके।

७—उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत—जिसमें अपने जीवन में आवश्यक एवं उपयोगी (खान-पान, वस्त्राभूषण, शरीर-श्रृंगार एवं रक्षा के) पदार्थ की मर्यादा करके निरंकुश जीवन से बचे तथा जीवन निर्वाह के लिये अत्यन्त पाप-कारी निंद्य व्यवसाय का त्याग करे।

८—अनर्थ दण्ड विरमण व्रत—जिसमें विनावश्यक निरर्थक पापकारी कार्यों का त्याग करे। जैसे—निरर्थक बुरे विचार, प्रमादाचरण, हिंसाकारी अधिकरण का लेन-देन और बिना प्रयोजन पापकर्म का उपदेश या प्रेरणा करना।

९—सामायिक व्रत—राग-द्वेष रहित समभाव धारण करके आत्म-चिन्तन करने का अभ्यास बढ़ाने का प्रयत्न करना।

१०—देशावगासिक व्रत—जिसमें यावज्जीवन के लिये की हुई दिशा की, भोगोपभोग की मर्यादा में संकोच करना अथवा धर्म को पोषण देने के लिये आश्रव से वन का त्याग कर संवर-दयादि व्रत करना।

११—पोषधोपवास व्रत—महीने में कुछ दिन या वर्ष में कुछ दिन आहार, शरीर-सुश्रुषा, व्यापार और अब्रह्मचर्य का त्याग करके सामायिक-पूर्वक, अष्ट प्रहर का या कम समय का पौषध करना।

१२—अतिथि संविभाग व्रत—जिसमें अतिथियों का अपने भोजन में से विभाग करके (देना) सत्कार करना। इस व्रत का दूसरा नाम शास्त्रों में यथा संविभाग भी कहा है। जिसका मतलब है अपनी आय का विभाग करके, उदारता-पूर्वक धर्म-कार्य तथा जनोपयोगी सत्कृत्यों में व्यय करना। जैसे—परदेशी राजा ने अपने राज्य

के चार भाग करके, एक भाग अतिथियों की सेवा में लगाने का प्रबन्ध किया था।

इस प्रकार अपनी शक्ति अनुसार चारित्र-धर्म को अंगीकार करके आराधना करने से शीघ्र ही आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है।

प्रकरण का सार—मनुष्य-जीवन का मुख्य उद्देश्य, राग-द्वेष से मुक्त होकर, जीवन-मुक्त बनने का है। अतः राग-द्वेष का मूल तपास करके उसे निर्मूल करने का परम पुरुषार्थ चारित्र-धर्म के आचरण से ही होता है। विचार, मनन, निदिध्यासन एवं शोधन ये सब सूत्र-धर्म के पर्यायवाची शब्द हैं और आचार प्रयत्न पुरुषार्थ, ये चारित्र-धर्म के पर्यायवाची शब्द हैं। केवल विचार करे किन्तु आचरण में न लावे तो सिद्धि नहीं होती अतः चारित्र-धर्म-आचरण में ही कल्याण है।

—:०:—

१०: अस्तिकाय-धर्म

शास्त्र में, अस्तिकाय-धर्म की टीका यों की है—

अस्तय: प्रदेशास्तेषां कायो-राशि-रास्तिकायः स धर्मोगति पर्याये जीव पुद्गलयोर्द्धारणादित्यास्तिक यधर्मः

अर्थ—अस्ति अर्थात् प्रदेश की काय अर्थात् राशि को अस्ति-काय कहते हैं। तद्रूप जो धर्म है, वह गति और पर्यायों में, पुद्गलों का धारण-कर्ता होने के कारण, अस्तिकाय-धर्म कहलाता है।

यहाँ टीकाकार ने, पंचास्तिकाय में से केवल धर्मास्तिकायको ही अस्तिकाय—धर्म में गिनाया है। इसका तात्पर्य यह है, कि सूत्र-भगवतीजी में धर्मास्तिकाय के अभिवचन, अर्थात् अनेक नामों में धर्म और धर्मास्तिकाय को सहधर्मी-रूप से एक माना है। वहां यों पाठ है—

धम्मत्थिकायस्स णं भंते ! केवइया अभिवयणा पण्णत्ता ? गोयमा अणेगा अभिवयणा पण्णंत्ता। तं जहा—धम्मेत्तिवा धम्मस्थिकाएइवा, पाणाइवाय वेरमणेति या, मुसावाय वेरमणेतिवा, एवं जाव परिग्गह वेरमणं कोह विवेगेति वा, जाव मिच्छादन्सणसल्लविदेगेतिवा, इरिया-समिए ति वा, भाषा समिए ति वा, एसणा समिए ति वा, आदाण भंडमत्त निक्खेवणासमिए ति वा, उच्चारपासवण खेलजल्लसिंघाण पारिठावणियासमिई ति वा, मणगुत्ती ति वा, वायगुत्ती ति वा, जे यावण्णे तहप्पगारा, सव्वे ते धम्मत्थिकायस्स अभिवयणा ॥

इस उपर के पाठ से यह सिद्ध होता है, कि धर्म और धर्मा-स्तिकाय को, नाम के साधर्म्य से एक ही माना गया है। इसी से टीकाकार ने, अस्तिकाय-धर्म में 'धर्म' शब्द के साथ धर्मास्तिकाय को ही उदाहरण-स्वरूप बतलाया है। धर्मास्तिकाय को धर्म का सहधर्मी बतलाने का एक यह भी कारण समझा जाता है, कि धर्मास्तिकाय, गति-सहायक द्रव्य है। अतएव, कर्म के नाश करने में धर्मास्तिकाय की भी सहायता पहुंचती है। शायद इसी अभिप्राय से, शास्त्रकार ने धर्म और धर्मास्तिकाय को एक नाम से बतलाये हों। तत्व केवली गम्य।

प्रकरण का सार—अस्तिकाय-धर्म यानी जिसमें जिस धर्म की अस्ति है उसको प्रकट करना यानी आत्मा में आत्म-धर्म रहा हुआ है उसको समझना और पर-भाव में जाते हुए आत्मा को रोक कर स्वभाव दशा में लाना, आत्म-धर्म में रमण करना, तन्मय हो जाना

अस्तिकाय-धर्म समझना है। जो ग्राम, नगर, राष्ट्र आदि सूत्र-चारित्र-धर्म का यथोचित पालन करेगा वही आत्मा के सत्-धर्म रूप-सिद्ध स्थान में पहुंचकर अस्तिकाय-धर्म में स्थिर हो जावेगा। इत्यलम्।

—: ० :—

११ : दस-स्थविर-धर्म

उत्तरार्ध-विषय-प्रवेश

'नोधमो धार्मिकैर्विना, जिसके मस्तक के बाल सफेद हो गये हैं अथवा जो वयोवृद्ध (दाना) हो गया है वह स्थविर नहीं कहलाता किन्तु जिसके हृदय में अहिंसा, सत्य, संयम, दम और तप आदि धर्म ने स्थिति (वास) कर ली है तथा जो दोष-रहित एवं धीर है वही सच्चा स्थविर (धर्म-नायक) है।

धर्म की उत्पत्ति अपने आप नहीं होती, किन्तु किसी मनुष्य के कार्यों का ऐसा प्रभाव पड़ता है, कि धर्म का प्रचार हो जाता है। जैसे—एक मकान बनने से पहले, चूना, पत्थर आदि—आदि सामग्री दूसरी-दूसरी जगह पड़ी थी, किन्तु किसी के उद्योग से, यह सब सामग्री एकत्रित हुई और मकान बना। यद्यपि यों तो, प्रत्येक पदार्थ में कुछ न कुछ धर्म अवश्य है, किन्तु उन धर्मों को एकत्रित करके एक रूप देने का काम जब तक न हो, तब तक उन सब के पृथक्-पृथक् धर्म, विशेष लाभ-प्रद नहीं होते। जैसे—पत्थर में जुड़ने का

और चूने में जोड़ने का धर्म मौजूद है, किन्तु जब तक कोई कारीगर इन दोनों के धर्मों का एकीकरण नहीं कर देता, तब तक मकान तैयार नहीं होता ।

ठीक यह बात धर्म के लिये भी समझनी चाहिए । बिखरा हुआ धर्म किसी उपयोग में नहीं आता किन्तु उसे एकत्रित कर देने से, प्राणि-मात्र का कल्याण करने वाला महा-धर्म तैयार हो जाता है । इस बिखरे हुये धर्म को, महा-पुरुष जन्म लेकर एकत्रित कर देते हैं ।

चूना और पत्थर को जोड़ने वाला मनुष्य, जैसे कारीगर कहलाता है, वैसे ही धर्मों को जोड़ने वाले को, शास्त्रकार 'स्थविर' कहते हैं ।

मानव-समाज को दुर्व्यवस्थित दशा से निकाल कर, सुव्यवस्थित करे, वह स्थविर कहा जाता है । यह नहीं, कि कोई मनुष्य किसी बूरे काम को सिद्ध करने के लिए संगठन करे और उसे स्थविर कहा जाय । स्थविर वही है, जो सब की व्यवस्था का समुचित--रूपेण ध्यान रखे ।

सुथार, लकड़ी को व्यवस्थित करने के लिए किसी जगह से छीलता है, किसी जगह से काटता है और किसी जगह जोड़ता है । इसी प्रकार स्थविर को भी सुव्यवस्था करने के लिए कई बातें काटनी--छांटनी व जोड़नी पड़ती हैं । यदि वह ऐसा न करे, तो व्यवस्था न हो और जब व्यवस्था न करे, तो वह स्थविर नहीं कहा जा सकता । न्याय-पूर्वक की हुई काट-छांट के लिये, कभी-कभी स्थविर पर कुछ स्वार्थी मनुष्य असन्तुष्ट भी हो जाते हैं, किन्तु सच्चा स्थविर उन सब के असन्तोष की परवा न करता हुआ, अपना कर्तव्य बराबर पालता रहता है ।

स्थविर को, आजकल की भाषा में प्रमुख नेता या लीडर

भी कहते हैं। प्राचीन भाषा में पंच या मुखिया कहते हैं और जैन-शास्त्रों में इन्हें स्थविर कहा है।

स्थविर उसे कहते हैं, जिसके वचनों का प्रभाव सब पर पड़े तथा जन-साधारण स्थविर के वाक्य का उल्लंघन, ईश्वर-वाणी का उल्लंघन समझे। यह गुण, उसी व्यक्ति में पैदा हो सकता है, जो निःस्वार्थ-भाव से व्यवस्था करता हो। चाहे राजा की बात को जनता न माने, किन्तु निःस्वार्थ-भाव से सेवा करने वाले स्थविर की बात अवश्य मानती है।

जब जनता के अच्छे भाग्य होते हैं, तब उसे अच्छा स्थविर मिलता है। आज कल तो कई लोग, केवल अपनी कीर्त्ति के लिये लीडर बन जाते हैं और सुना है, कि कुछ आदमी तो स्वार्थ भी साधने लगते हैं। ऐसी स्थिति में मानव-समाज की उन्नति हो तो कैसे ?

जैन-शास्त्रों में दस प्रकार के स्थविर कहे गये हैं। उनके नाम ये हैं—

ग्राम्य-स्थविर, नगर-स्थविर, राष्ट्र-स्थविर, प्रशास्ता-स्थविर, कुल-स्थविर, गण-स्थविर, संघ-स्थविर, जाति-स्थविर, सूत्र-स्थविर, पर्याय स्थविर।

इन दसों प्रकार के स्थविरों का वर्णन, आगे क्रमवार किया जाता है।

१: ग्राम—स्थविर

ग्राम-स्थविर, ग्राम के उस मुखिया को कहते हैं, जो ग्राम की दुर्व्यवस्था मिटाकर, सुव्यवस्था स्थापित करे।

दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था किसे कहते हैं, यह बात प्रत्येक

मनुष्य नहीं समझ सकता । इस बात को वही मनुष्य समझ सकता है, जिसका अपना अनुभव इस विषय में अच्छा हो और जिसे दस-धर्म की श्रृङ्खला की प्रत्येक कड़ी का ध्यान हो । एकाङ्गी दृष्टि से विचार करने वाला मनुष्य, दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था का अर्थ क्या समझे ।

ग्राम में दुर्व्यवस्था होने पर, ग्राम सदैव पतित अवस्था की ही ओर जाता है, ग्राम में चोरी होती हो, व्यभिचार होता हो, लोग भूखों मरते हों और कोई उनकी सुव्यवस्था न करे, तो उस ग्राम का पतन हो जायगा, यह ध्रुवसत्य है । क्योंकि, एक तो अव्यवस्थित ग्राम में यों ही अनाचार फैला रहता है, तिस पर जब लोग भूखों मरेंगे, तो और अधिक अनाचार करेंगे। इसलिये प्रत्येक ग्राम में, एक-एक स्थविर, यानी सुव्यवस्था करने वाले की आवश्यकता रहती है ।

आज, ग्रामों में स्थविरों की बड़ी कमी है। ग्राम-स्थविर का ग्राम की व्यवस्था में कौनसा स्थान है, यह बात बहुत विस्तृत है । किन्तु एक उदाहरण दे देने से ही इसका सार समझ में आजायगा ।

किसी ग्राम में मघा नामक एक ग्राम-स्थविर था। इस अकेले मनुष्य ने, सारे ग्राम की व्यवस्था इस ढङ्ग से की, कि उस ग्राम में एक भी शराबी, चोर, दुराचारी या कर्ज खानेवाला मनुष्य न रहा । यहां तक कि, घरों में ताले लगाने तक की भी आवश्यकता न रह गई । समभाव रखकर व्यवस्था करने से, मघा को अपने प्रयत्न में सफलता मिली और ग्रामवासी इससे अप्रसन्न भी न हुए । मघा, मुहल्ले झाड़ने तक का काम अपने हाथ से करता था। उसको झाड़ते देखकर, स्त्रियां और कचरा डाल देती, कि वह आकर झाड़ेगा ही, परन्तु वह विना किसी प्रकार की अप्रसन्नता प्रकट किये ही उस कचरे को झाड़कर फेंक देता था ।

गांव में जितने दुराचारी और मद्य पीनेवाले थे, उन सब लोगों से, मघा विनय करता और उन्हें इन दुर्व्यसनों से रोकता था।

किन्तु मघा दो की आंखों में खटकने लगा। एक तो कलाल, दूसरे राज्याधिकारी। मघा की सुव्यवस्था के कारण वहां न तो कोई शराबी था और न कोई मुकदमेबाज। इसी कारण, कलाल और अधिकारी दोनों को हाथ पर हाथ रखे बैठे रहना पड़ता था। अन्त में अधिकारियों ने, मघा पर झूठा अपराध लगाकर मगध-नरेश से उसकी शिकायत की। राजा ने, मघा और उसके शिष्यों को बुलाया और उसके ३२ शिष्यों को हाथी के पैर के नीचे कुचलवाकर मार डालने की आज्ञा दी। किन्तु ये स्थविर ऐसे न थे, जो ऐसी-वैसी बातों से डर जाते! इनकी निर्भयता के कारण, हाथियों को भी भाग जाना पड़ा।

आज, ग्रामों में ऐसा कोई स्थविर नहीं है, प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र है। यही कारण है, आज ग्रामों की व्यवस्था अत्यन्त खराब हो रही है। मुकदमेबाजों की इतनी अत्यधिक-वृद्धि का एक-मात्र कारण, गांवों में स्थविर का अभाव है।

जिस ग्राम का स्थविर बुद्धिमान होता है, वहां की प्रजा को दुष्काल पड़ने पर भी, किसी आपत्ति का सामना नहीं करना पड़ता। क्योंकि, स्थविर अपनी दीर्घ दृष्टि के कारण भविष्य का विचार करके, ऐसा संग्रह कर रखता है, कि अकाल के समय ग्राम-वासियों को कष्ट नहीं होने पाता।

स्थविर के अभाव में, आज ग्रामीणों का जीवनधन 'गोवंश' उनके अज्ञान तथा ग्राम की दुर्व्यवस्था के कारण, नष्ट होता जा रहा है। जरासी पानी की न्यूनता होते ही, घास के अभाव से तङ्ग आकर, ग्रामीण लोग अपनी गौओं को यों ही आवारा छोड़ देते हैं। ये गोएँ, किसी प्रकार कसाइयो के हाथ पड़ जाती हैं और इनका

वध हो जाता है। जब ग्रामों में स्थविर होते हैं, तो वे भविष्य का ध्यान रखकर, गायों के लिये खाद्य-पदार्थ एकत्रित कर रखते हैं और इस तरह गायों की रक्षा करके, उन्हें कसाइयों के द्वारा छुरी के घाट नहीं उतरने देते।

आज, यदि ग्रामों में ऐसे स्थविर हों, और ग्रामीण उसका साथ दें, तो भारतवर्ष का पतन शीघ्र ही रुक जायगा। संसार में, मनुष्यों के लिये, साधारणतः अन्न और कपड़े की विशेष आवश्यकता रहती है। अन्य वस्तुओं के बिना तो काम चल सकता है, किन्तु इनके बिना नहीं चल सकता। भारतवर्ष के ग्राम ऐसे हैं, कि अपनी ही निपज से उनकी दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव हैं। ग्रामों में पैदा किया हुआ अन्न ग्रामों की सब आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है। शेष रही वस्त्रों की बात।

पहले समय में, प्रत्येक ग्राम में कपड़ा तैयार करने वाले मनुष्य रहते थे। प्रायः कोई ग्राम ऐसा खाली न था, जहां कपड़ा तैयार न होता रहा हो। जब प्रत्येक-ग्राम वाले अपने लिये वस्त्र तैयार कर लेते थे और अन्न भी पैदा कर लेते थे, तो उनको दूसरों का मुंह देखने की आवश्यकता ही नहीं रहती थी। ऐसी स्थिति में, उन्हे किसी ओर से दीनतापूर्वक किसी पदार्थ की भिक्षा क्यों मांगनी पड़े? किन्तु इन बातों को बिना ग्राम-स्थविर के कौन समझावे?

चोरी आदि कुकृत्य, मनुष्य प्रायः तभी करता है, जब उसे अन्न-वस्त्र की कमी पड़ती है। अन्न-वस्त्र की कमी न रहने की दशा में, प्रायः बुरे कर्म कम होते हैं।

भारतवर्ष में जब ऐसी सुव्यवस्था थी, तब चोरी बहुत कम होती थी। दूर की बात छोड़िये, अभी थोड़े ही दिन की अर्थात् कोई दो हजार वर्ष पूर्व की बात है, सम्राट चन्द्रगुप्त के दरबार में

ग्रीस राजदूत मेगास्थनीज रहता था। उसने, भारतवर्ष के अपने कई वर्षों के अनुभव लिखे हैं। उसने लिखा है, कि भारतवर्ष में ऐसी सुव्यवस्था है, कि लोग अपने मकानों में ताला भी नहीं लगाते। कोई झूठ नहीं बोलता और कोई बेईमानी नहीं करता।

भारववर्ष की जिस ग्राम-व्यवस्था का वर्णन ऊपर किया गया है, यह व्यवस्था भारतवर्ष ने भोगी है और जिस दिन फिर यह व्यवस्था जारी हो जायगी, उसी दिन भारत में पुनः आनन्द-मङ्गल बरतने लगेगा, ऐसा भारत के शुभचिन्तकों का मानना है।

२ : नगर—स्थविर।

नगरस्थविर उसे कहते हैं, जो नगर की सुव्यवस्था करे। ग्रामस्थविर और नगर-स्थविर, में यह अन्तर है, कि ग्रामस्थविर, ग्राम अर्थात् छोटे जन-समूह का व्यवस्थापक और नगर-स्थविर नगर अर्थात् बड़े जन-समूह का व्यवस्थापक होता है।

छोटा आदमी, छोटी वस्तु को सम्हाल सकता है, किन्तु बड़ी वस्तु को नहीं सम्हाल सकता है। बड़े आदमियों की व्यवस्था में ही नागरिक रह सकते हैं, छोटे आदमी की शक्ति नहीं, कि वह नागरिकों को अपने नियन्त्रण में रख सके। एक कवि ने कहा है:—

कैसे छोटे नरन तें, सरत बड़न के काम।
मढ्यो दमामा जात क्यों ले चूहे को चाम॥

अर्थात्—छोटे मनुष्यों से बड़ा काम होना कठिन है। जिनकी बुद्धि, वैभव, प्रभाव कम हैं, उनसे बड़ा काम नहीं हो सकता। जैसे चूहे की खाल से नगारा नहीं मढ़ा जा सकता।

इसी प्रकार ग्राम का स्थविर नगर का काम नहीं कर सकता। ग्राम और नगर का ठीक वही सम्बन्ध है, जो समुद्र में

नाव और जहाज का होता है। जहाज, गहरे पानी में रहता है, थोड़े पानी में नहीं आ सकता। अतः नावें, किनारे पहुंचाती हैं। इसी प्रकार नगर-'जहाज' और ग्राम–'नाव' के समान है। जिस प्रकार माल, नाव से जहाज में जाता है, उसी प्रकार ग्राम से वस्तुएँ नगर में आती हैं। इसीलिए ग्राम और नगर का सम्बन्ध है और दोनों के स्थविरों का भी सम्बन्ध है।

नगर के स्थविर में, नगर की समुचित व्यवस्था करने का गुण होता है। आजकल, यह काम भाड़े के आदमी करते हैं। परन्तु पहले के नगर स्थविर ऑनरेरी होते थे, उन्हें कोई तनख्वाह न मिलती थी और न वे लेते ही थे। फिर वे लोग ऐसी व्यवस्था करते थे, कि नगर में किसी प्रकार का कुप्रबन्ध नहीं रहने पाता था। वे ऑनरेरी होते थे, अतः लोभ-तृष्णा आदि में भी न पड़ते थे।

दूसरी वात यह थी कि व्यवस्थापक प्रायः उसी राज्य के रहने वालों में से चुने जाते थे जो अपनी सहृदयता और मिलनसारी पूर्वक व्यवस्था करते थे। पहले के जमाने में डिग्रियों का व्यामोह नहीं था किन्तु बुद्धि-बल और कार्य-कुशलता देखी जाती थी, जो समय पर प्राण देकर राज्य और देश की रक्षा करते थे। इस समय अधिकाँश छोटे से बड़े हाकिम तक, विदेशी कर्मचारी बुलाये जाते हैं जो देश-काल और परिस्थिति के अनभिज्ञ होते हैं। केवल राजा को खुश रख कर अपना स्वार्थ साधना ही उनका लक्ष्य होता है। इसलिये वे सुव्यवस्था नहीं कर सकते और प्रजा को इस प्रकार दवाई जाती है कि वह कुछ वोल ही नहीं सकती।

नगर-स्थविर, राजा और प्रजा के बीच का प्रधान–पुरुष होता है। राजा से प्रजा को, या प्रजा से राज्य को किसी प्रकार की हानि न पहुंचे, इस प्रकार की व्यवस्था करने वाला मनुष्य नगर-स्थविर कहलाता है। नगर-स्थविर का जनता पर कैसा प्रभाव होता

है, यह बतलाने के लिये एक उदाहरण देते हैं ।

सुना जाता है, कि उदयपुर में नगर-सेठ प्रेमचन्दजी को संवत् १९०८ में महाराणा स्वरूपसिंहजी ५०००) रु० वार्षिक-आय की जागीर देने लगे । तब उन्होंने प्रार्थना की, कि जागीर लेने पर राज्य से जो आज्ञा होगी, उसकी तामील मुझे अवश्य करनी पड़ेगी, प्रजा के दुःख-दर्द और योग्यायोग्य का विचार नहीं रहेगा । इसलिये मैं जागीर नहीं लेना चाहता । इस पर महाराणा, उन्हें सच्चे प्रजा-भक्त समझने लगे ।

इसके बाद सं० १९२० में, महाराणा शम्भूसिंहजी गद्दी पर विराजे और राज्य का काम एजन्टी से होता था । उस समय प्रजा को जो दुःख दर्द था, उसके लिये प्रजा ने सेठ चम्पालालजी से कहा तो उन्होंने महाराजा से प्रार्थना की, कि राज-कर्मचारियों द्वारा प्रजा को अमुक-अमुक बातों का दुःख हो रहा है । उत्तर में महाराणा ने फरमाया कि–एजन्ट साहब से कहो ।

इस पर सेठजी, पचों को लेकर एजेन्ट साहब की कोठी पर गये । वहाँ के कर्मचारियों ने एजेन्ट साहब से कहा, कि–संगठन करके रैयत आप पर चढ़ आई है । तब एजेन्ट साहब ने वहाँ तोपखाने का प्रबन्ध किया । इस पर शहर में हड़ताल हो गई और सब लोग सेठजी के साथ सहेलियों की बाड़ी में चले गये । उन दिनों पायगों में, एक बैल मर गया और उसको उठाने के लिए, चमारों की जरूरत पड़ी । तब सेठजी के कहने पर ही बोलों (चमारों) ने उस बैल को उठाया । फिर सेठजी मोटेगाँव (गोगून्दा) चले गये । सेठजी को लाने के लिये एजेन्ट ने सरदारों को भेजा । सेठजी तब वापिस आये और एजेन्ट ने प्रजा के दुःख-दर्द को सुन, उसे मिटाने का प्रबन्ध किया । यही कारण था, कि सेठ चम्पालालजी और प्रेमचन्दजी का प्रजा ने साथ दिया । क्योंकि, वे प्रजा के दुःख

दर्द को सुन, उसे मिटाने का सच्चे दिल से प्रयत्न करते थे।

नगर-स्थविर वही मनुष्य हो सकता है, जो प्रजा का दुःख जानकर, उसे दूर करने का प्रयत्न करता है। जिस नगर में व्यवस्था करने वाला स्थविर होता है, उस नगर में होने वाली चोरी, जारी और अन्याय अपने आप रुक जाते हैं। राजा, इनको शक्ति से रोकने का प्रयत्न करता है, किन्तु स्थविर इन सब बातों को अपने प्रेम के प्रभाव से ही रोक देता है। स्थविर, इस तरह का बर्ताव करता है, कि सब का दास भी रहता है और सब का मालिक भी।

केवल सत्ता के बल पर यदि राज्य चल सकता हो, तो ग्राम-स्थविर और नगर-स्थविर के होने की क्या आवश्यकता पड़ती? परन्तु राजा के होते हुये भी, प्रजा का सुख-दुःख सुनने वाला स्थविर ही, नगर में शान्ति रखने में समर्थ हो सकता है।

आज, कई लोगों द्वारा यह कहा जाता है, कि पराये काम में नहीं पड़ना चाहिए। जो करेगा सो भुगतेगा। यह कह कर, लोगों में ऐसे भाव भर दिये हैं, कि अपने ही स्वार्थ में मग्न रहते हैं। उनकी दृष्टि में, दूसरे के दुःख-सुख पर विचार करते ही पाप हो जाता है। किन्तु क्या व्यवस्था करने वाला पापी है? क्या पापियों से भी कभी रक्षा हो सकती है?

'कदापि नहीं।'

कई जैन-नामधारियों ने, इसके विरुद्ध प्ररूपणा करना प्रारम्भ कर दिया है और किसी जीव को कष्ट से बचाने में, एकान्त पाप बतला कर दुनिया को भ्रम-जाल में डालते हैं। उनका यह कथन शास्त्र-विरुद्ध तो है ही, साथ ही अस्वाभाविक भी है। मानवहृदय ही इस प्रकार का है, कि किसी को कष्ट में देख कर यह द्रवित हो उठता है। यह एक प्राकृतिक गुण है। आज, 'किसी को बचाना एकान्त पाप है।' यह उल्टी शिक्षा देकर, प्रकृति के इस गुण को

नष्ट किया जा रहा है।

जैसे एक अन्धा गड्ढे में गिर रहा है और दूसरा नेत्रवान् पुरुष पास ही खड़ा देखता है। किन्तु वह नेत्रवान् 'अन्धा गिरता है, इसमें अपना क्या ?' यह कह कर उसे नहीं बचाता, तो अन्धा कौन है ?

'देखते रहने वाला।'

तुम भी मनुष्य हो, तुम में इतनी निर्दयता कहां से घुस गई, कि तुम्हारे देखते हुए अन्धा गिरे और तुम न बचाओ ? उसकी तो आंखें फूट ही गई हैं, किन्तु जो देखते हुये भी उसे नहीं बचाता, उसकी आंखें, होते भी न होने के बराबर हैं। "अपना क्या अटका।" ऐसा कहने वाले लोगों ने, अपने हृदय की सब दया नष्ट कर ली है। जो मनुष्यता से भी गये—बीते हैं।

जो मनुष्य, जिस गांव में रहता है, उस गांव के दुख—सुख की चिन्ता न करे, तो वह उस गांव में रहने का अधिकारी नहीं गिना जाता। बुद्धिमान् मनुष्य की यह समझ रहती है, कि जो आपत्ति इस समय दूसरे ग्राम—वासियों पर है, भविष्य में यही आपत्ति, यदि अभी से उसके प्रतिकार का उपाय न करूंगा, तो मुझ पर भी आवेगी और वह अपने पर आने वाली आपत्ति के प्रतिकार का, यही उपाय सोचता है, कि अपने ग्राम—वासियों के सिर पर आई हुई आपत्ति को, न्याय-पूर्वक दूर करने का प्रयत्न किया जाय।

"मेरा कर्तव्य है कि नगर में पाप—कर्म न बढ़ने पावें, इसका प्रबन्ध करूं।" ऐसा समझ कर जो मनुष्य प्रबन्ध करता है, वही नगर—स्थविर कहा जाता है।

आज कुछ लोग नागरिक कहलाने का दावा तो करते हैं; किन्तु नागरिक-नियमों का अच्छी तरह पालन नहीं करते। नगर-निवासियों की रक्षा में, "अपना क्या अटका" यह बात कह कर

अपने स्वार्थीपन या कृतघन्ता का परिचय देते हैं।

जो मनुष्य, स्वार्थ-त्यागी हो और आवश्यकता पड़ने पर अपना तन, मन, धन बलिदान दे सकता हो, वही स्थविर बन कर काम कर सकता है। जिसके हृदय में लोभ होगा, वह मनुष्य स्थविरपन नहीं कर सकता। स्थविर कैसा होना चाहिए, इसके लिए एक शास्त्रीय उदाहरण दिया जाता है। उपासक दशाङ्ग सूत्र के प्रथम अध्ययन में कहा है:—

से णं आणन्दे गाहावई बहूणं राईसर जाय सत्थवाहाणं बहूसु कज्जेसु य कारणसु य मन्तेसु य कुडुम्बेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे तयस्सवि य णं कुडुम्बस्स मेढी पमाणं आहारे आलम्बणं चक्खू, मेढीभूए जाव सव्वकज्जवट्टावए यावि होत्था।

भावार्थ – वह आनन्द गृहपति, बहुत से राजेश्वर, यावत् सार्थवाहियों को, बहुत से कार्यों में, बहुत सलाह करने में, उनके कुटुम्ब में और बहुत से गुह्य (गुप्त) कार्यों में, बहुत से रहस्यपूर्ण कार्यों में, निश्चित कार्यों में और व्यवहार कार्यों में, एक बार तथा बार-बार पूछने लायक था। वह अपने कुटुम्ब में भी, मेडी के समान और प्रमाण आहार आलम्बन, चक्षु और मेडीभूत होकर सब काम में बर्ताने वाला था।

यदि इस सब का विस्तृत-विवरण बतलाया जावे, तो बहुत समय की आवश्यकता है। अतः संक्षिप्त में ही, खास-खास बातों पर कुछ कहा जाता है।

कहा है कि "आनन्द" मेड़ी के समान था। मेड़ी उसे कहते हैं, जिस लकड़ी के सहारे बैल दावन में फिरते हैं। इसका यह मतलब है, कि आनन्द प्रधान मनुष्य था, अन्य मनुष्य उसी के बताये हुवे नियमों का पालन करते थे।

आनन्द "प्रमाण" अर्थात् कभी अप्रमाणिक बात न कहने

वाला था ।

आनन्द "आहार" अर्थात् दूसरे मनुष्यों की रोटी था । रोटी, जैसे मनुष्य के प्राण की रक्षा करती है, जैसे ही आनन्द, राजा और प्रजा की रक्षा करता था ।

आनन्द, आलम्बन था । आलम्बन उसे कहते हैं, जिसका सहारा लिया जावे । जैसे, अन्धे के लिए लकड़ी सहारा है, उसी प्रकार आनन्द, राजा, प्रजा और कुटुम्ब इन सब का सहारा था । आनन्द को आलम्बन कहा है, तो वे राजा और प्रजा को आधार देते होंगे, तभी तो आलम्बन कहे गये हैं न ?

आगे कहा गया है, कि आनन्द चक्षु था । इसका यह मतलब है, कि वे राजा और प्रजा दोनों को सन्मार्ग दिखाते थे । क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो उन्हें चक्षु अर्थात् नेत्र क्यों कहा जाता ?

भगवान् कहते हैं, कि आनन्द ने चौदह वर्ष तक श्रावकव्रत पाला और इन्हीं व्यवहारों में रहा । जब इनको छोड़कर ऊंची अवस्था में जाना था, तब अपने पुत्र को बुलाकर सब लोगों से कहा, कि जो बात अब तक मुझ से पूछते थे । वह अब इस पुत्र से पूछना ।

ऐसे अच्छे नगर-स्थविर होने की ही दशा में, जनता धर्म-पालन के लिये तैयार होती है ।

नगर में केवल एक स्थविर होने से, नगर का काम नहीं चल सकता । इसलिये, प्रत्येक विभाग के पृथक्-पृथक् ऐसे अनेक स्थविर होते हैं । ये स्थविर लोग, परस्पर सहयोग रख कर बड़े से बड़े कामों को सफलता-पूर्वक पूर्ण कर सकते हैं ।

आज भी, नगरों में स्थविर अर्थात् म्युनिसिपल-कमिश्नर रहते हैं, किन्तु सुना जाता है, कि उनसे नगर-वासियों को जैसा चाहिये, वैसा लाभ नहीं पहुंचता । बम्बई, कलकत्ता आदि शहरों में

देखो तो चोरी, व्यभिचार, दिवाला निकाल देना आदि अनेक नीच काम होते हैं किन्तु ये लोग, इन कामों की रोक के लिए उचित प्रयत्न नहीं करते। सफाई की तरफ भी, इन लोगों की ऐसी उपेक्षा दृष्टि रहती है, कि इसी कारण हैजा, प्लेग आदि भयङ्कर रोग पैदा हो जाते हैं। ये लोग, केवल बड़ाई पाने के लिये स्थविर बन जाते हैं, किसी के सुख:दुख या हानि-लाभ पर विचार करने का कष्ट कम उठाते हैं। यही कारण है, कि आज नगर-धर्म का प्राय: लोप हो गया है।

नगर-स्थविर नगर की व्यवस्था करने वाले पूर्व समय की भाँति नि:स्वार्थी और देश काल तथा प्रजा के सुख-दु:ख को समझने व दूर करने की दाझ वाले होकर राज्य-तरफ से उनके हाथ में अधिकार आवेगा तभी नगरों की प्रजा सुखी होगी। विदेशी अनुभव शून्य डिग्री प्राप्त भाड़ूतियों के द्वारा नहीं हो सकती। इससे तो प्रजा विशेष दु:खी बनी और बनती जा रही है। 'प्रभो' वह सुदिन शीघ्र आवे।

३ : राष्ट्र-स्थविर

ग्राम-स्थविर और नगर-स्थविर जब बुद्धिमान्, प्रभावशाली और शक्तिशाली होते हैं, तथा समुचित व्यवस्था रखते हैं, तो राष्ट्र-स्थविर का कार्यक्षेत्र, बहुत सुगम और प्रशस्त हो जाता है। ऐसे समय में, यदि अच्छा राष्ट्र-स्थविर हो, तो राष्ट्र-धर्म का समुचित-रूपेण पालन हो सकता है।

बहुत से ग्रामों के सम्बन्ध से नगर, और बहुत से नगरों के समूह से प्रान्त बनता है। इन प्रान्तों में, चाहे वेष-भूषा या बोली का कुछ-कुछ अन्तर भले ही हो, किन्तु इन सब के एकत्रित हो जाने

पर राष्ट्र बन जाता है।

जिस मनुष्य के प्रत्येक कार्य से राष्ट्र ऊंचा रहे, किन्तु अधः पतन की ओर न जाय, प्रजा सुखी रहे और जो राष्ट्र-धर्म की मर्यादा का पालन करता हुआ अपने हृदय में राष्ट्र के प्रति अथक प्रेम रखे, उसी का नाम राष्ट्र—स्थविर है।

केवल बातों से, यह कार्य पूर्ण नहीं होता। प्रजा के जरा-जरा से सुख-दुःख को समझने वाला, आवश्यकता पड़ने पर लोहा झेलने की शक्ति रखने वाला, अर्थात् जेल जाने की भी क्षमता रखने वाला और अपने प्राण को राष्ट्र के सामने तृण के समान समझने वाला मनुष्य ही, इस काम को कर सकता है। जिस मनुष्य को अपने तन—धन से मिथ्या—मोह है, वह इसे पूरा नहीं कर सकता।

राष्ट्र-स्थविर कैसा होता है, इसके लिये कोई प्राचीन उदाहरण न देकर इस समय के राष्ट्र-स्थविर का ही जिक्र करते हैं।

आज गान्धीजी को देख कर संसार जान गया है, कि राष्ट्र-स्थविर कैसा होता है। उनकी जीवनी को देखो, तो मालूम हो, कि राष्ट्र-स्थविर को कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। जिन लोगों को अपना ही आत्मा प्यारा नहीं है, उनमें ऐसी सहिष्णुता का आविर्भाव हो तो कैसे ?

राष्ट्र-स्थविर को, राष्ट्र के रहन-सहन, खाने-पीने आदि का
रा ध्यान रहता है। वह, पराये देश के खान-पान अथवा रहन-
हन पर नहीं लुभाता। आज, भारत के कुछ लोगों ने अपने राष्ट्र-
ं को छोड़ कर यह दशा ग्रहण की है, कि रहते तो हैं हिन्दुस्तान
और रहन-सहन से बनते हैं अंग्रेज। उन्हें, न तो हिन्दुस्तानी
पसन्द है, और न हिन्दुस्तानी खाना-पीना या पोशाक। वे
कुर्सी पर बैठ कर, छुरी-चमचे से ही अंग्रेजों के समान खाना

खाने में, सौभाग्य मानते हैं। यह राष्ट्र का दुर्भाग्य है।

इस कुत्सित चाल के चल निकलने का कारण, लोगों के हृदय की दुर्बलता है। बड़े कहाने वाले मनुष्य विलायत जाते हैं और अपने राष्ट्र-धर्म को भूल कर विलायती ढंग को अख्तियार कर लेते हैं। विलायत में मनुष्य के चरित्र को गिराने के लिये कैसी-कैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, यह बात गान्धीजी की जीवनी देखने पर मालूम होती है।

गांधीजी जब विलायत जाने लगे, तो इनकी माता, इनके बिगड़ जाने के भय से, इन्हें बेचरजीस्वामी नामक एक काठियावाड़ी साधुमार्गी जैन मुनि के पास ले गई और कहा, कि यदि ये मांस, मदिरा और पर-स्त्री के सौगन्द आपके सामने ले लें, तो मैं इन्हें विलायत जाने की आज्ञा दे सकती हूँ। गान्धीजी ने, इन तीनों बातों की सौगन्द खाई और विलायत गये। विलायत में इन्हें इस प्रतिज्ञा पर से हटाने के लिये बड़े-बड़े प्रसङ्ग आये। यदि उपरोक्त जैन-मुनि के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा से ये न बँधे होते, तो यह नहीं कहा जा सकता, कि गांधीजी आज जैसे हैं, वैसे बन पाते। अस्तु।

अपना सर्वस्व देकर, जो व्यक्ति अपने प्राण भी राष्ट्र के लिये कुर्बान करने को तैयार हो जाता है, वही राष्ट्र-स्थविर पद का कार्य कर सकता है।

कई एक भाई प्रश्न करते हैं, कि 'गांधीजी ने हम लोगों का बड़ा नुकसान किया है। हम लोगों से, लाखों रुपये स्वराज्य के नाम पर वसूल करके कुछ न किया, इसलिये वे राष्ट्र-स्थविर की अपेक्षा राष्ट्र-घाती क्यों न कहे जायँ ?'

परन्तु मैं पूछता हूँ, कि गांधीजी वह रुपया ले कहां गये ? क्या उन्होंने उन रुपयों से अपना घर बनाया है ?

'लड़के को दुकान करा दी' १

यह बिना प्रमाण, कलंक चढ़ाने की बात है। गांधीजी की आत्म-कथा को देखते हुए, मैं इस बात को कदापि सत्य नहीं मान सकता, कि उन्होंने देश के रुपये से अपने लड़के को दुकान करादी हो।

"किन्तु देश का व्यापार भी तो गान्धीजी के ही चलते नष्ट

---

१ महात्मा गांधीजी के बड़े पुत्र श्री हीरालालजी गांधी ने कलकत्ते में एक कम्पनी खोल रखी थी। महात्माजी ने, इन्हें अपने से पृथक् कर दिया था। क्योंकि इनके कुछ व्यवहार उन्हें पसन्द न थे। उपरोक्त कम्पनी, थोड़ीसी उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति और शेयरों के बल पर चलती थी। इस कम्पनी के शेयर होल्डरों की बड़ी शिकायत थी और कम्पनी में भी भारी दुर्व्यवस्था थी। किन्तु बहुत दिन पहले ही, महात्माजी ने, नव-जीवन में टिप्पणी लिखकर लोगों को सूचित कर दिया था, कि उक्त कम्पनी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल "गांधी" नाम देखकर जो सज्जन इसमें रुपया लगावेंगे, उनके रुपयों के लिये मैं किसी प्रकार जिम्मेदार नहीं हूँ। ऐसी दशा में कोई सज्जन महात्माजी को इसके लिये दोषी ठहरावें, तो यह उनकी भारी भूल है। देश के पीछे जिस व्यक्ति ने अपनी आत्म-कथा के विदेशाधिकार की कीमत का एक लाख रुपया ी चर्खा-संघ को दान कर दिया था और विपुल धनराशि सदैव हाथ रहते हुए भी, जो ७-८ रुपये मासिक व्यय में गुजर करते थे, स्वार्थ-त्यागी महात्मा के सिर ऐसे लान्छन लगाना घोर कृत-ा है।

—सम्पादक

होता जा रहा है !"

यह कहना भी भारी भूल है । गांधीजी ने, देश का व्यापार नष्ट करने के लिये आज तक कोई कार्य किया है, ऐसा सुनने में नहीं आया । बल्कि सुना तो यह है, कि देश के व्यापार को चमकाने के लिये ही सब कार्य कर रहे हैं ! उनका कथन है, कि सदैव अपने देश का ही माल उपयोग में लाना चाहिये ।

अपने देश का कच्चा माल विदेश भेजकर, वहां से उसी के द्वारा तैयार किया हुआ पक्का माल मंगाना, इसका अर्थ आपकी एक रुपये की चीज का दूसरे को कई रुपया देना है । जैसे—एक रुपये की दो सेर के भाव की रुई यहाँ से भेजी और उसी रुई से, वहां वालों ने चर्बी लगाकर वस्त्र तैयार किये और फिर भारतवर्ष में भेजकर दस रुपये में वेच लिये । इस प्रकार से भारतीयों की आर्थिक हानि तो जो हुई, सो हुई, साथ ही धर्म पर भी आघात पहुंचा । यदि यह विदेशी माल वन्द हो जाय और देश के गरीब (वेकार) लोग धंधे लग जायें, तो राष्ट्र के गरीबों की जो हानि हो रही है, वह फिर असम्भव हो जाय, ऐसा देश के स्थविरों अर्थात् नेताओं का कथन है ।

यद्यपि यह बात सम्भव है, इससे बण्डल के वण्डल विदेशी माल मँगाने वाले कुछ व्यापारियों की क्षति भी हो, किन्तु विचार-शील नेता कहते हैं, कि एक साथ सभी को लाभ हो और किसी को हानि ही नहीं, यह बात राष्ट्र-धर्म में अशक्य है । राष्ट्र-धर्म में तो वही बात शक्य है, जिससे अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ हो । विचार करने से, यह बात ठीक भी मालूम होती है । क्योंकि पहले ही यह बात बतलाई जा चुकी है, कि राष्ट्र-धर्म वही कहा जाता है, जिससे राष्ट्र के अधिक से अधिक मनुष्यों का कल्याण हो । तब यह कैसे हो सकता है कि थोड़े से विदेशी माल के एजेन्टों की क्षति का ध्यान रखकर, राष्ट्र का कल्याण गँवा दिया जाय ।

राष्ट्र-धर्म का ध्यान न रख कर, केवल अपने स्वार्थ के लिये, राष्ट्र के ऐसे सेवक पर अनुचित आक्षेप करना, बहुत बुरी बात है। किसी का गान्धी से अन्य बातों में मतभेद हो सकता है, किन्तु राष्ट्र-धर्म के नाते उनकी सेवाओं को आदर्श नहीं मानना, बुद्धिमानी नहीं है।

सुनते हैं, कि पहले एक रुपये के छः मन चावल बिकते थे और एक रुपये का तीस सेर के भाव घी बिकता था। उस समय कपड़े का भाव कैसा रहा होगा?

खूब सस्ता।

हां, ऊपर से चाहे पैसे न दीखते रहे हों, किन्तु देश तब सुखी था या अब?

तब

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज, अपने व्याख्यान में फरमाया करते थे, कि जब अन्न—कपड़ा सस्ता और सोना—चांदी मंहगा हो, तो वह जमाना पुण्य का तथा अन्न—कपड़ा मंहगा हो, तो वह जमाना दुर्भाग्य का समझना चाहिये। क्योंकि सोना—चांदी को कोई खा नहीं सकता, अन्न—कपड़ा तो खाने-पहनने के काम में आता है।

यदि एक रुपये के आठ मन चावल बिकते हों और कोई गरीब के घर पर अतिथि बनकर आजाय, तो वह उसको किसी भारी न मालूम हो। ऐसे सस्ते जमाने में ही उन पर दया होती थी, उनसे प्रेम होता था। आजकल, अच्छे—चावल १) रुपये सेर भी नहीं मिलते हैं। अत्यन्त स्नेही सम्बन्धी के आने पर भी विचार होता होगा, कि ये वापस कब चले जावें।

अपना स्वार्थ छोड़कर यदि कोई विचार करे, तो मालूम हो कि राष्ट्र सुखी कैसे हो सकता है? इसके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है—

एक आदमी पर देवता प्रसन्न हुआ। उसने कहा कि 'मैं दो

बातों में से एक बात दे सकता हूँ। पहली बात तो यह है कि मैं बड़े-बड़े आम, नारंगी आदि फल वाले झाड़ दूं और दूसरी यह कि ज्वार, गेहूँ आदि के छोटे-छोटे पौधे दूं।' तब उस बुद्धिमान ने कहा, कि मुझे बड़े-बड़े झाड़ न चाहिए, किन्तु गेहूँ-बाजरी आदि के छोटे-छोटे पौधे चाहिएँ।

देवता ने पूछा, कि बड़े-बड़े झाड़ छोड कर छोटे-छोटे पौधे क्यों मांगते हो ? उस बुद्धिमान ने उत्तर दिया, कि बड़े-बड़े झाड़ों के फल से तो अमीर-उमरावों की मौज-शौक का काम चल सकता है। परन्तु सारी दुनिया का नहीं और गेहूँ-बाजरी आदि के पौधे से, गरीब से लेकर अमीर तक सभी का संरक्षण होता है। अतएव मैं थोड़े तवङ्गरों की मौजशौक को मान न देकर, सारी दुनिया का जिसमें फायदा हो, वही चीज पसन्द करता हूँ। देवता ने आशीर्वाद दिया, कि तेरी बुद्धिमत्ता को धन्यवाद है।

इसी प्रकार, जब तक मनुष्य अपना स्वार्थ छोड़कर सब की सुविधा नहीं सोचता, तब तक राष्ट्र के कल्याण की भावनाएं उसके हृदय में उत्पन्न नहीं होतीं। राष्ट्र का कल्याण वही कहा जाता है, जिसमें जन-साधारण का कल्याण हो, नहीं, कि जिसमें कुछ तवंगरों को फायदा मिले और जन-साधारण का अकल्याण हो। जब तक, मनुष्य अपना स्वार्थ छोड़कर हृदय में राष्ट्रीय-भावना का उदय नहीं करता, तब तक, राष्ट्र के दुःख-सुख की ओर उसका जरा भी ध्यान नहीं जाता।

कई लोग कहते है कि ये सांसारिक बातें हैं, परन्तु यह नहीं सोचते कि जितनी धर्म की बातें है, वे सब संसार के ही विचार से की जाती हैं। जिसमें संसार का कल्याण हो, उसे धर्म की बात कहते हैं और जिससे संसार का पतन हो, उसे पाप की बात कहते हैं। इसीलिये राष्ट्र-धर्म और राष्ट्र-स्थविर की बात शास्त्रकारों ने

बतलाई है, फिर हमें उसकी व्याख्या करने में क्या दोष ? पुण्य-पाप की बातें संसार की ही हैं, किन्तु पुण्य को पुण्य और पाप को पाप बतलाने में कोई दोष नहीं। अस्तु

दिन प्रतिदिन, भारतवर्ष से राष्ट्र-धर्म का लोप हुआ दिखाई देता है। इसी से राष्ट्र की अधोगति है। लोग, राष्ट्र-धर्म से दूर रहने में ही अपना कल्याण मान बैठे हैं। एक दिन, जिस देश में मकान में ताले नहीं लगाये जाते थे, वहीं आज पारस्परिक अविश्वास की यह दशा है, कि बाप-बेटा और पति-पत्नी का विश्वास न रहने से, बेटा-बाप से और बाप—बेटे से तथा पत्नी-पति से एवं पति-पत्नी से अलग ताला लगाते हैं। चोरी और डाकों की संख्या, दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। कितने ही लोग तो, भूखों मरते हुए विवश होकर बुरे काम करते हैं तथा प्राण गंवा चुके हैं।

जिस राष्ट्र में, राष्ट्र-धर्म की समुचित व्यवस्था होती है, वह राष्ट्र अपने आदर्श के सन्निकट पहुंच जाता है।

जिस बाग में, हजार झाड़ आम के हैं और १०-२० झाड़ नींबू-जामुन आदि के हैं, वह बाग किन झाड़ों का कहा जायगा ?

'आम का'

भारतवर्ष में गरीब बहुत हैं और अमीर थोड़े, ऐसी दशा में यह देश गरीबों का है या पूंजीपतियों का ?

'गरीबों का'

बड़े-बड़े सेठ लोग भी, गरीबों के पीछे हैं। अब उन गरीबों की रक्षा न हो और अमीरों के पास थोड़ा-थोड़ा धन बढ़ता जाय, तो इसका यह अर्थ नहीं है, कि देश सुखी हो रहा है। क्योंकि देश गरीबों का है, इसलिए जब तक गरीब सुखी न हों, तब तक देश सुखी नहीं कहा जा सकता।

राष्ट्र-धर्म वह है, जिससे राष्ट्र में अन्न-वस्त्र के लिये मनुष्य मरते न हों, परस्पर विद्रोह करके एक-दूसरे का वैरी न बनता हो। किन्तु आज, ज्यादातर लोगों ने अपने २ मानसिक नेत्रों पर स्वार्थ का चश्मा चढ़ा रक्खा है, अतः उन्हें गरीबों के जीने-मरने का ध्यान नहीं है। उन्हें तो अपनी तिजोरी भर लेने से ही काम है।

भारतवर्ष की स्थिति कितनी नाजुक हो गई है, यह बात वास्तविक-रूप से बहुतों को तो मालूम भी नहीं है। कुछ लोग तो स्वार्थ में लगे हैं और कुछ अज्ञान में ही गोते खा रहे हैं।

एक घर में, एक आदमी तो खूब खाता हो, भूख न होने पर भी तरह-तरह के माल उड़ाता हो और दस आदमी भूखों मरते हों, तो उस एक को क्या संसार में कोई मनुष्य अच्छा कह सकता है ?

'नहीं'

इस बात को बहुत थोड़े आदमी समझते हैं। आज-कल तो दया को नष्ट करने के लिये ही आन्दोलन हो रहा है, तो फिर राष्ट्र-धर्म की भावना कैसे हो सकती है ? क्योंकि राष्ट्र-धर्म मानने वाले के हृदय में, सब से पहले, गरीबों के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न होना चाहिये।

सुना जाता है, कि एक तरफ तो भारतवर्ष में करीब छः करोड़ मनुष्य एक समय खाने को पाते हैं, अर्थात्, पूरा पेट भर भोजन नहीं पाते और दूसरी तरफ कुछ लोग, मौज-शौक से माल उड़ाते हुए, बेभान होकर द्रव्य का नाश करते हैं। उन गरीबों के हित की चिन्ता भी नहीं करते। यह कितनी कृतघ्नता है। जिन गरीबों की सहायता से तिजोरियां भरी हैं, और अमीर बने हैं, उन्हीं की दशा पर विचार न करना, घोर स्वार्थीपन और अमानुषिकता है।

यदि कोई यह कहे, कि गरीबों ने कर्मों की अन्तराय ही ऐसी बांध रखी है, फिर धनवानों को उनकी तरफ लक्ष्य देने से क्या मतलब ? तो ऐसा कहने वाला मनुष्य स्वार्थी ही हो सकता है । पारमार्थिक मनुष्य, ऐसा कभी नहीं कह सकता । वह समझता है, कि जिसको अन्तराय-कर्म से दुःख होता है, उसी पर दयालु पुरुष दया कर सकता है । क्योंकि, दया दुःखियों की ही होती है । यदि दुःखी न हों, तो सुखी मनुष्यों को दया करने का उपदेश देने की ही क्या जरूरत है ? बुद्धिमान ऐसा समझते हैं, कि जैसे—मैं गरीबों से धन कमाता हूँ, उसी तरह मुझे गरीबों पर दया—भाव रख कर धर्म और पुण्य की प्राप्ति करना ही श्रेयस्कर है ।

उपकार के समय यह कह देना, कि 'यह तो उनके कर्मों का फल है ।' संसार से उपकार को विदा करना है । यह दया नहीं बल्कि निर्दयता है । यदि ऐसा मानो, कि अन्तराय बांधी उसका फल भोगते हैं, तो फिर आप लोगों को भी उद्योग करने की क्या आवश्यकता है ? चुपचाप पड़े रह कर यह क्यों नहीं सोच लेते कि कर्मों का फल भुगत रहे हैं । अतः यदि अच्छे कर्म किये होंगे, तो खाने को अपने आप मिल जायगा ? अस्तु ।

सेठाई और गरीबी, दोनों ही अपने-अपने कर्तव्यों का फल है । किसी के छाप नहीं लगी होती है कि यह सेठ है और यह गरीब है ।

राष्ट्र-स्थविर वह है जो, राष्ट्र के कल्याण की चिन्ता करे। शास्त्र कहता है, कि चाहे एक ही व्यक्ति हो, परन्तु यदि राष्ट्र की चिन्ता करे, तो वही स्थविर है । जो मनुष्य यह ध्यान रखे, कि मेरे खाने, मेरे पहनने-ओढ़ने और रहन-सहन से राष्ट्र की कोई क्षति न होने पावे, वह भी राष्ट्र-स्थविर है ।

आज अधिकांश भारतीयों में से, राष्ट्र-धर्म का निशान भी

मिट गया है। इसके विरुद्ध, यूरोपियन-जातियों में अपने राष्ट्र के प्रति कैसी भावना है, यह बात उदाहरण देकर बतलाते हैं।

सागर के एक श्रावक की दूकान पर, देशी और विलायती दोनों प्रकार के माल बिकते थे। एक दिन, उनकी जान-पहचान के एक अंग्रेज ने, अपने नौकर को चवाल खरीदने भेजा। उपरोक्त श्रावक के पास, उस समय देशी और विलायती दोनों प्रकार के चावल थे, किन्तु विलायती चावल न देकर बढ़िया देशी चावल ही दे दिये। जब नौकर, चावल लेकर साहब के पास पहुंचा, तो साहब नौकर पर बहुत बिगड़ा और खरी-खोटी सुनाने के बाद हुक्म दिया, कि ये चावल वापस लौटाकर विलायती चावल खरीद लाओ। बेचारा नौकर, भागा हुआ सेठजी की दूकान पर वापस गया और सारी कथा कह सुनाई। सेठजी ने, वे चावल वापस ले लिये और उनकी कीमत लेकर, विलायती चावलों का एक डिब्बा दे दिया। कुछ दिनों के बाद, सेठजी की उसी यूरोपियन से मुलाकात हुई। तब उन्होंने इसका कारण पूछा। यूरोपियन ने उत्तर दिया, कि विलायती चावल खरीदने से, उनकी कीमत हमारे देशवासियों को मिलेगी। हम ऐसे मूर्ख नहीं हैं; कि यहाँ आकर अपने देशवासियों का ध्यान न रखें और अपने देश का माल खरीदकर वहां पैसा न पहुंचावें, यहाँ के लोगों को पैसा दें।

इसी तरह बम्बई के एक श्रावक, एक दिन जिक्र करते थे, कि बम्बई में एक यूरोपियन ने अपने नौकर से एक जोड़ा फुल-बूट लाने को कहा। नौकर, एक देशी दूकान से बहुत अच्छा फुल-बूट १०) रुपये देकर ले गया। साहब ने जब देखा, कि यह देशी फुल-बूट ले आया है, तो वे नौकर पर बुरी तरह बिगड़े और उससे कहने लगे कि मूर्ख ! देशी फुल-बूट क्यों खरीद लाया ?' नौकर ने उत्तर दिया, कि 'ये बहुत अच्छे हैं, आप एक बार इन्हें पहन कर देखिए तो सही।' यह सुनकर साहब ने, नौकर को बहुत सी

गालियां दीं और कहा, कि इस बूट की कीमत तुम अपने पास से दो तथा हमारे लिये विलायती बूट–जोड़ा खरीद कर लाओ। नौकर उन जूतों को लिए हुए दुकान पर वापस गया और दुकानदार से सारी कथा कह कर प्रार्थना की, कि वह अपना हर्जाना काट कर बाकी की रकम, बूट के बदले वापस लौटा दे। दुकानदार था भला आदमी। उसे इस गरीब पर दया आई। उसने, इस प्रकार गरीब की हानि करना उचित न समझ, बूट लेकर उसकी पूरी कीमत वापस लौटादी। कीमत वापस लेकर, नौकर एक यूरोपियन की दुकान पर गया और चौगुनी के करीब कीमत देकर एक विलायती जोड़ा खरीद लाया। साहब को वह जोड़ा बहुत पसन्द आया। नौकर ने साहब से पूछा, कि यह जोड़ा चौगुनी कीमत का होने पर भी वैसा अच्छा नहीं है, फिर आपको कैसे पसन्द आया? तब साहब ने उत्तर दिया, कि यह हमारे, देश का बना हुआ है, अतः इसका पैसा, हमारे देश को जावेगा। हम लोग, भारतीयों की तरह मूर्ख थोड़े ही हैं। हमें सदैव अपने देश का ध्यान रहता है।

उपरोक्त उदाहरणों से, आपको विदित हुआ होगा, कि यूरोपियन जाति में, अपने राष्ट्र के प्रति कैसी भक्ति है। वे हजारों मील दूर भारत में रह कर भी, अपने देश की बनी हुई चीज मंहगी होने पर भी उसी का उपयोग करते हैं और भारत के लोग भारत में रहते हुये, देश के पतन की अवस्था में भी विदेश का बना हुआ कपड़ा पहनते हैं। यह भारत को अधिक पतन की ओर ले जाना नहीं, तो और क्या है?

धार्मिक दृष्टि से भी, विदेशी वस्त्र कितने खराब हैं, यह बात आप लोगों को विदित ही है। लाखों पशुओं का वध करके निकली हुई चर्बी जिन वस्त्रों में लगती है, उन वस्त्रों को काम में लाना, क्या धर्म-भ्रष्टता नहीं हैं?

जिस देश के मनुष्य, अपने देश तथा अपने देश की बनी हुई

वस्तुओं की कदर नहीं करते, उस देश के मनुष्यों की कदर दूसरे देशों में भी नहीं रहती दिखाई देती है। किसी साधारण ग्राम में, यदि कोई गोरा (फिर चाहे वह बावर्ची ही हो) आजाय तो सब लोग 'साहब आया', 'साहब आया' कह कर सलाम करेंगे। इसके विरुद्ध, भारतीयों की विदेशों में क्या कदर है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। कौन नहीं जानता, कि गांधीजी को दक्षिण-अफ्रीका में 'कुली बैरिस्टर' कहते थे ? सुना है, कि अभी थोड़े ही दिन पहले, किसी अन्य देश में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बड़ा अपमान हुआ था। बड़े-बड़े भारतीयों को, विदेशों में बुरी तरह अपमानित होना पड़ा है। इसका कारण यह प्रतीत होता है, कि एक की भूल, दूसरे को शूल होती है। जब भारत के मोटे भाग का जन-समाज, अपने राष्ट्र-धर्म को भूल कर विदेशी चीजों को अपनाता है तब उसका फल भारतीय होने के कारण गांधीजी और रवीन्द्रनाथ जैसे नेता पुरुष को भी भोगना पड़ा है।

जब तक, राष्ट्र-धर्म का हृदय में वास न हो तब तक कोई मनुष्य राष्ट्र का स्थविर नहीं हो सकता। इसके लिये बड़े त्याग और कष्ट-सहिष्णुता की अपेक्षा रहती है। भारतीयों के पतन का मुख्य कारण यह है, कि राष्ट्र का समुचित धर्म और उस धर्म के पालने वाले स्थविरों का अधिकांश में अभाव है।

इतिहास को देखने से पता लगता है, कि भूतकाल में, इस देश के स्थविरों ने, अपने राष्ट्र और राष्ट्र-धर्म की रक्षा के लिये कैसे-कैसे कष्ट उठाये हैं इसके लिये महाराणा प्रताप का ही उदाहरण काफी है। उन्होंने अपने देश की लज्जा बचाने के लिए कैसे-कैसे घोर संकट सहे हैं ! अठारह वर्ष तक, अरावली पहाड़ की घाटियों में नाना प्रकार के कष्ट सहते और अन्न न मिलने के समय घास-फूस के बीज खा-खा कर घूमते रहे। वह रानी, जो राज-महलों में सुख से रहती थी, उस समय अपने हाथ से पीसती और रो।

कोई हानि नहीं है, बल्कि धार्मिक दृष्टि से भी लाभ है। किन्तु यह सरल कार्य भी, लोगों को बड़ा कठिन लगता है और राष्ट्र-धर्म के इस महत्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा करते हैं यह उनके अज्ञान का कारण है। अज्ञान, अविद्या का ही दूसरा नाम है। जब तक भारत में राष्ट्र-धर्म की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं है, तब तक लोगों के हृदय में राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न होना कठिन है। अतः राष्ट्र-धर्म की शिक्षा दी जानी आवश्यक है।

४: प्रशास्ता—स्थविर

ग्राम-स्थविर, नगर-स्थविर, राष्ट्र-स्थविर इन तीनों का वर्णन हो चुका, अब चौथे स्थविर प्रशास्ता-स्थविर के विषय में कुछ कहते हैं। ठाणाङ्ग-सूत्र में इसकी टीका करते हुए टीकाकार कहते हैं:—

"प्रशासति शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तार: धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविरा:।"

अर्थात्—शिक्षा देने वाले का नाम प्रशास्ता है और जो धर्मोपदेशक या शिक्षक अपनी शिक्षा के प्रभाव से शिष्यों को धर्म में दृढ़ कर देते हैं, वे प्रशास्तृस्थविर कहे जाते हैं।

साधारण शिक्षकों या अन्य शिक्षा देने वालों को प्रशास्ता कह सकते हैं, किन्तु जो मनुष्य अपने प्रबन्ध से, या शिक्षा-शैली से, अपने अनुयायियों को धर्म में दृढ़ करता अर्थात् सन्मार्ग पर लाता है, वह प्रशास्तास्थविर है। राष्ट्र की शिक्षा कैसी होनी चाहिए, इस बात को गहरी दृष्टि से विचारने तथा शिक्षा-विभाग की समुचित-व्यवस्था करने वाला मनुष्य, प्रशास्तास्थविर कहा जाता है।

आज, भारतवर्ष की शिक्षाशैली तथा व्यवस्था कैसी है, यह बात देखनी चाहिए। क्योंकि राष्ट्र की उन्नति किंवा अवनति शिक्षा पर ही निर्भर है। जिस शिक्षा से राष्ट्र की उन्नति न हो, वह

शिक्षा भी कोई शिक्षा है ?

आज यहां की शिक्षा-प्रणाली कुछ ऐसी दूषित है, कि भारतीयों में भारतीय-भाव भी नहीं रहते अपितु निकल जाते हैं। जो विदेशी जिस देश को अपने पैरों तले दबाये रखना चाहते होंगे, वे भला उस देश के लोगों को अच्छी शिक्षा क्यों देने लगे ? उन्हें तो केवल अपने मतलब की ही गर्ज होती है, अतः जैसी शिक्षा देने से उनका मतलब होता होगा, वैसी ही शिक्षा देंगे।

पहले, जब शिक्षा में राष्ट्रीय–भाव भरे रहते थे, तब राष्ट्र का सिर ऊंचा रहता था और जनता सुख–समृद्धि से पूर्ण रहती थी।

'किन्तु पहले के व्यापारियों के पास तो इतना धन न था, जितना कि आज है। थली प्रान्त में हजारों लखपती रहते हैं और मजूर भी सोने के जेवर पहनते हैं। पहले लोग अपने ही गाँव में रहते और हल हाँक कर या नमक-मिर्च बेच कर गुजर करते थे, किन्तु अब कलकत्ता और बम्बई जाकर बड़े-बड़े व्यापार करते हैं, तो क्या यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रताप नहीं है ?'

मैं पूछता हूँ, कि थली वालों ने या अन्य प्रान्त वालों ने जो धन कमाया है, वह भारत का ही है, या कहीं बाहर से आया ?

'भारत का ही।'

तो इसका क्या अर्थ हुआ ? यही न कि जो खून सारे शरीर में दौड़ता था, वह एकत्रित होकर एक स्थान पर जम गया, या एक पैर तो खम्भे के समान मोटा हो गया और दूसरा बेंत की तरह पतला। यदि किसी मनुष्य के शरीर की यह दशा हो, तो क्या वह सुन्दर कहा जा सकता है ?

यदि शरीर में कहीं नया खून आवे, (पैदा हो) तब तो दूसरी बात है, किन्तु जब शरीर के एक अंग का खून खाली

होकर दूसरे अङ्ग में चला जाय, तो यह शरीर की उन्नति नहीं, बल्कि अवनति है। इसका परिणाम यह तो सकता है, कि शरीर पहले सशक्त था, वह अब निर्बल हो जायगा। इसी प्रकार यदि, गरीबों की रोजी मार कर धन बढ़ा, तो उस धन से क्या लाभ हो सकता है ? यदि धन मिलने के साथ-साथ कल्याण बुद्धि और मिल जाती, तथा दूसरों के कल्याण में लग जाते, तब तो कह सकते थे कि हां, धन बढ़ा है। जहां रुपया-पैसा बढ़ जाता है और उसके साथ बुद्धि तथा शक्ति उन्नत के बदले अवनत हो जाती हैं, तो दुनिया में उस धन का होना और न होना, दोनों बराबर कहे जाते हैं। आजकल धनवान लोगों की शारीरिक-शक्ति की ज्यादातर यह दशा सुनी जाती है, कि यदि एक जाट बिगड़ खड़ा हो, तो धनवान दस आदमी भी उसका कुछ नहीं कर सकते। इस दशा से यह पता चलता है, कि लोगों ने वैसी रीति से धन नहीं पैदा किया है, जैसी रीति से वास्तव में पैदा किया जाता है। नीतिवान् कहते हैं, कि धन की वास्तविक पैदायश जमीन से है। जमीन से धन पैदा होता है, अर्थ-शास्त्री उसे ही वास्तविक धन कहते हैं। इस बात की पुष्टि आनन्द-श्रावक के चरित्र से भी होती है।

आनन्द-श्रावक के पास, १२ करोड़ सोनैये तथा ४० हजार गौएं और ५०० हल थे। इन हलों से वह जो कुछ पैदा करता था, उसे ५०० गाड़ियों में भर-भर कर घर पर लाता था तथा ५०० गाड़ियों से देशावर को ले जाता था। इस प्रकार वह धनी भी था और हजारों मनुष्यों को जीविका भी देता था। आज, कई एक धन्दे वाले, हजारों मनुष्यों की आय हरण करके आप अकेले ही धनी बनते रहते हैं। इससे उन लोगों में, छल-कपट अधिक बढ़ जाता है, परन्तु वास्तविक धनोपार्जन नहीं कहा जा सकता। यदि कोई मनुष्य, हजारों के घर के दीपक बुझा कर, अपने घर में मशि-याल जला ले, तो यह उचित नहीं समझा जाता। इसी प्रकार लाखों

मनुष्यों की आय नष्ट करके, केवल अपनी आमदनी बढ़ा लेने को कोई नीति-युक्त कार्य नहीं कह सकता। यदि कोई नीति-पूर्वक गहरी दृष्टि से विचार करे, तो उसे आज ही मालूम हो जाय; कि न्याय-युक्त धन किसे कहते हैं! और जिसे मैं धन समझ रहा हूँ, बस धन, धन नहीं, बल्कि गरीबों का स्वत्व-हरण है।

मतलब यह हैं कि आज की धन-संग्राहक नीति, प्रायः वैसी नहीं है, जैसी पूर्वकाल में आनन्दादि गृहस्थों की थी। क्योंकि वह नीति गरीबों की पोषक थी और आज की नीति शोषक है। अस्तु।

राष्ट्र के लिये वही शिक्षा-प्रणाली कल्याण करने वाली कही जा सकती है, जिस राष्ट्र के प्रशास्ता-स्थविर ने, राष्ट्रीय दृष्टिकोण से पसन्द किया हो।

प्रशास्ता-स्थविर इस बात पर विचार करता है, कि बालकों को कैसी शिक्षा दी जानी चाहिए, युवकों को कैसी शिक्षा दी जानी चाहिए और वृद्धों को कैसी शिक्षा दी जानी चाहिए। प्रशास्ता-स्थविर, सदैव राष्ट्र के कल्याण की दृष्टि से ही इस बात का विचार करता है, अतः उसकी प्रचलित की हुई शिक्षा-प्रणाली से राष्ट्र के अकल्याण की सम्भावना नहीं रहती। किन्तु आज, शिक्षा-विभाग, राष्ट्र के प्रशास्ता-स्थविर के हाथ में नहीं है, अतः बालकों की शिक्षा, वृद्धों को और वृद्धों की शिक्षा, बालकों को दी जाती है। इस शिक्षा का परिणाम उल्टा होता है। यदि शिक्षा विभाग राष्ट्र के प्रशास्ता-स्थविर के प्रबन्ध में होता, तो राष्ट्र के जीवन-धन युवक आज प्रायः ऐसे निर्बल, साहस-शून्य, गुलामी की भावना वाले और अकर्मण्य होकर, नौकरियों के लिये क्यों मारे-मारे फिरते? और नौकरी न मिलने पर, या किसी परीक्षा में फैल हो जाने पर, तत्क्षण कायरों की भांति आत्महत्या करने वाले भी क्यों निकलते? इसका

एकमात्र कारण, शिक्षा-प्रणाली का दूषित होना है ।

इस समय देश में, हजारों युवक बी० ए०, एम० ए० पास करके दूसरे को बोझ-रूप हो पड़े हैं । वे, अपना कार्य स्वयं कर लेने में भी समर्थ नहीं सुने जाते । बल्कि सुना तो यह जाता है कि अधिकांश युवक अपने ठाठ-बाट के बोझे को निभाने के लिए, ऐसे अनुचित कार्य भी कर डालते हैं, जिससे राष्ट्र को घोर हानि पहुंचती है । यदि पूर्व काल के ढङ्ग का राष्ट्रीय-शिक्षण आज होता तो ७२ कलाओं से निष्णात युवक हजारों मनुष्यों को लाभ पहुंचाता, एवम् देश का संरक्षक होता । अस्तु ।

प्रशास्तास्थविर के अभाव में, आज भारतीय-स्त्रियों की शिक्षा की भी बड़ी दुर्दशा सुनी जाती है । स्त्री-शिक्षा स्वच्छन्दता की होनी चाहिए, या विनीतता की, इस बात का विचार प्रशास्ता-स्थविर के बिना कौन करे ? भारत में, पहले भी स्त्रियां शिक्षिता थीं और वे भी ऐसी-वैसी शिक्षित नहीं, बल्कि बड़े-बड़े पण्डितों के शास्त्रार्थ की निर्णायिका बनाई जाती थीं । मण्डन-मिश्र और शङ्कराचार्य के शास्त्रार्थ में सुनते हैं, कि मण्डन-मिश्र की स्त्री भारती ही निर्णा-यिका बनाई गई थी और कई दिन का शास्त्रार्थ सुनकर उसने निर्णय किया था, कि शङ्कराचार्य जीते और मेरे पतिदेव हारे । इतना सब कुछ होते हुए भी, स्त्रियां 'विनीता' कही जाती थीं । और आज ? आज यह दशा सुनते हैं, कि थोड़ा पढ़ लिख कर स्त्रियां प्रायः अपने पति को ही डाटा करती हैं । स्वतन्त्रता और विलासिता के लिये उनकी विचारधारा इतनी प्रबल हो उठती हैं, कि वे एकदम यूरो-पियन स्त्रियों का मुकाबिला कर लेना चाहती हैं । कुछ दिन पहले सुनते हैं कि बम्बई में एक अधिक शिक्षित बहिन ने स्त्रियों की सभा में भाषण करते हुये कहा था, कि स्त्रियों को भी यह अधिकार मिलने चाहिएं, कि वे एक से अधिक पति एक साथ करें । यह है, दूषित

वर्तमान में यह विभाग प्रायः विदेशी सरकार के नियन्त्रण में है तब स्वतन्त्र शिक्षा कहां से दी जाय ? और जब तक शिक्षा-विभाग देश के विचारशील मनुष्य के हाथ में न आ जाय—गुलामी छूटे ही कैसे ? अतः प्रशास्ता-स्थविरों की आवश्यकता है ।

५ : कुल-स्थविर

भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है । यहाँ सदैव विभाजित शासन-प्रणाली ही सफल होती आई है। एक ही शासक सारे कार्यों को ठीक रीति से करवा सकने में, यहाँ कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सका है । इसी बात को दृष्टि में रखकर शास्त्र में, कुल-धर्म और उस धर्म को व्यवस्थित रखने के लिए कुल-स्थविर की व्यवस्था बतलाई गई है ।

कुल-स्थविर दो प्रकार के होते हैं। एक लौकिक कुल-स्थविर दूसरा लोकोत्तर-कुल-स्थविर ।

लौकिक-कुल-स्थविर, लौकिक-कुल-धर्म के समुचित पालन की व्यवस्था करता है । किस कार्य के करने से कुल की उन्नति होगी और किसके करने से कुल का पतन होगा, इस बात का विचार करने वाला मनुष्य कुल-स्थविर कहा जाता है । जो कुल-स्थविर है, वह आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण दे देता है किन्तु कुल को दाग नहीं लगने देता है ।

जैसे दीपक स्वयं जलता है किन्तु दूसरों को नहीं जलाता और अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित करता है इसी तरह जो कुटुम्ब के दुःखों को मिटावे, उनके संकटों को सहन करे परन्तु उन्हें किसी तरह का दुःख न होने दे एवं अपने आदर्श आचार-विचारों से सारे कुटुम्ब को उजाले वही कुल-स्थविर हो सकता है । ऐसा मनुष्य कुल-दीपक भी कहा जाता है । कुल-दीपक बनना सरल कार्य नहीं है ।

कुल-दीपक बनने के लिए अपने शरीर को तपाना पड़ता है । जो ऐसा नहीं करते हुए केवल अपनी बड़ाई दिखाने को कुल-स्थविर होता है वह कुल (कुटुम्ब) का कल्याण नहीं कर सकता । कुल-स्थविर को कुटुम्ब में परस्पर प्रेम की वृद्धि हो, ऐसी कुटुम्ब-भावना का बीजारोपण करना चाहिये और कुटुम्ब के प्रत्येक मनुष्यों की साल-सम्भाल लेकर उनमें प्रेमभाव, एक्य-भाव की वृद्धि करना चाहिये ।

वर्तमान में कुल-स्थविर यानि कुटुम्ब के व्यवस्थापक की कुटुम्ब के लोगों के प्रति समभावना न रहकर एक के प्रति प्रेम-प्रदर्शन और दूसरे के प्रति उपेक्षा ही नहीं बल्कि असद्व्यवहार भी होता दिखाई देता है । इससे भेद बुद्धि बढ़कर मनोमालिन्य उत्पन्न होता है जो भविष्य में कुटुम्ब को छिन्न-भिन्न कर डालता है अतः कुल-स्थविरों को सब पर समान-भाव रखकर एक्य-भावना का विकास करना चाहिये ।

लौकिक-कुल-स्थविर के विषय में कह चुके, अब लोकोत्तर कुल-स्थविर के विषय में कुछ कहते हैं ।

साधु लोकोत्तर कुल में हैं । साधुओं का भी कुल माना गया है । एक गुरु के जितने शिष्य हैं, वे सब उस गुरु के कुल के समझे जाते हैं । इन शिष्यों की व्यवस्था रखने तथा उन्हें नियम-पालन में दृढ़ बनाने की जिम्मेदारी इस कुल के स्थविर अर्थात् गुरु पर है। यदि स्थविर व्यवस्था करके इन्हें सन्मार्ग पर न चलावें, तो यह व्यवस्थित कैसे रह सकते हैं ? प्रत्येक शिष्य को उसकी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य साधन देना गुरु का कर्तव्य है । शिष्यों को पढ़ा-लिखाकर विद्वान बनाना भी गुरु का ही कर्तव्य माना गया है ।

जो कुल-स्थविर है, उसका निष्पक्षपात होकर व्यवस्था करना

अत्यन्त आवश्यक है। यदि कोई गुरु अपने १०-२० योग्य शिष्यों के होते हुये भी पक्षपात करके १-२ को ही पढ़ाये और शेष को मूर्ख रहने दे तो वह गुरु कुल-स्थविर नहीं, बल्कि कुल-धर्म का नाश करने वाला है। बच्चे को, बच्चे की-सी और वृद्ध को वृद्ध की-सी शिक्षा दे और उनकी समुचित साल-सम्हाल रखे, इन्हें अपने चारित्र पर दृढ़ रखने का उद्योग करे, उस स्थविर का कुल पवित्र रहता है।

सारांश यह है कि जिस प्रकार लौकिक कुल-स्थविर अपने कुल-धर्म के पालन की व्यवस्था करता है, उसी प्रकार जो गुरु अपने कुल के सब साधुओं को, कुल-धर्म के पालन में दृढ़ बनाता है, वह लोकोत्तर-कुल-स्थविर है।

लोकोत्तर-कुल-स्थविर के बनाये हुये नियमों को भंग करने वालों के लिये दण्ड-विधान भी बतलाया गया है। उस प्रायश्चित में दसवां प्रायश्चित अन्तिम सजा है। यह दसवां प्रायश्चित उसे दिया जाता है, जो साधु कुल में रहकर कुल भेदे, संघ में रहकर संघ भेदे या गण में रहकर गण का विच्छेद करे।

साधु यदि महाव्रतों का मूल से भंग करे तो उसकी अधिक से अधिक सजा नई दीक्षा है; परन्तु गण के बिगाड़ने पर, दसवां प्रायश्चित है। यह क्यों ? यह इसलिये कि यदि कोई साधु व्यक्तिगत अपराध करेगा, तो वह अकेला ही बिगड़ेगा, परन्तु कुल संघादि के बिगाड़ने से न मालूम कितनी हानि हो सकती है।

जो मनुष्य कुल को छिन्न-भिन्न करता है, वह दुष्कर्म बांधता है, यह बात याद रखनी चाहिये।

वर्तमान समय में लोकोत्तर कुल-धर्म के नियम का भंग करने वालों के लिए संघ की ओर से समुचित व्यवस्था न होने के कारण सम्प्रदाय एवं संघ की दयनीय दशा हो रही है - इस खराबी को रोकने का समुचित प्रबन्ध होने से ही संघ का कल्याण हो सकता है।

६ : गण-स्थविर

बहुत से कुल एकत्रित होकर एक गण की स्थापना करते हैं। इस 'गण' की व्यवस्था करने के लिए एक स्थविर नियत किया जाता है, जिसे गण-स्थविर कहते हैं।

बहुत कुल की शक्ति यदि एकत्रित न की जाय तो वह बिखरी हुई रहेगी और किसी बड़े काम को करने में समर्थ न हो सकेगी। जब सब शक्तियां एकत्रित करके एक 'गण' बना दिया जाता है, तब वे ही बिखरी हुई शक्तियां एकत्रित होकर बड़ा काम करने में समर्थ हो जाती हैं। इस एकत्रित की हुई शक्ति का संचालन करने के लिये, एक अगुआ की आवश्यकता रहती है और वह गण-स्थविर के होने पर पूर्ण हो जाती है।

गण-स्थविर, गण-धर्म की रक्षा करता है। देश-काल और शास्त्र के अनुसार, गण के नियमों में परिवर्तन करने वाला स्थविर ही सच्चा गण-स्थविर कहा जाता है। जो स्थविर परिवर्तन से डरता है, वह अपना कर्तव्य समुचित-रूपेण पालन नहीं कर सकता। क्योंकि यदि वह देशकाल और शास्त्र के अनुसार परिवर्तन न करेगा तो गण-धर्म नष्ट हो जायगा।

यह संसार भी परिवर्तनशील है। जब संसार में भी परिवर्तन होता रहता है तो गण-धर्म के नियमों में भी यदि देश-काल और शास्त्र के अनुसार परिवर्तन न किया जाय तो वह नष्ट हो जाता है। कौनसा काम किस काल में करने योग्य है, इस बात का विचार गण-स्थविर ही कर सकता है।

लोग गर्मी में महीन कपड़े पहनते हैं, परन्तु जाड़े में मोटे पहनते हैं। गर्मी में दूसरा भोजन करते हैं और जाड़े में दूसरा। गर्मी में दूसरे कमरे में सोते हैं और जाड़े में दूसरे में। मतलब

यह कि यदि वे ऐसा परिवर्तन न करें तो खराबी पैदा हो जाता है और बीमार हो जाते हैं । इसी प्रकार गण-स्थविर, गण-धर्म में भी परिवर्तन की आवश्यकता समझता है । मैंने एक पुस्तक में पढ़ा है कि जिस चीज में परिवर्तन नहीं होता, वह ठहरती नहीं, बल्कि नष्ट हो जाती है । झाड़ों को देखिये । वे भी पुराने पत्ते फैंककर, नये पत्ते धारण करते हैं । अर्थात् परिवर्तन करते हैं । वृक्षों की जिन डालियों में पत्तों का परिवर्तन नहीं होता, वे डालियां मुर्दा समझी जाती हैं। जैन-शास्त्रों में भी उत्पाद, वय और ध्रुव बताया है । मतलब यह कि शास्त्र सम्मत समयानुसार परिवर्तन होना ही कल्याण-कारक माना जाता है ।

पहले ओसवालों में पच लोग गण-स्थविर होते थे। ओसवालों को किस प्रकार रहना, किस प्रकार व्यवहार करना और गण-धर्म की रक्षा के लिए क्या-क्या उपाय करने चाहिये इसका निश्चय वे ही लोग करते थे। इस प्रथा को जितना बिगाड़ा है, बिगाड़ने वालों को उतना ही दुष्परिणाम भुगतना पड़ा है । गण-स्थविर के होने पर किसी की क्या ताकत थी कि गण के सिद्धान्तों के विरुद्ध, मांस या शराब का उपयोग करे, अथवा कहीं बाल-विवाह या वृद्ध-विवाह हो जाय । जो पुरुष मर्यादा को भंग करता था, उसे ये गण-स्थविर दण्ड देने में समर्थ होते थे । गण की लज्जा रहे और गण की श्रेष्ठ प्रथायें न मिट जायं, इसलिए गण-स्थविर पूरा प्रयत्न करते थे । प्रत्येक मनुष्य इस महत्वपूर्ण पद का भार सहन करने के योग्य नहीं होता, बल्कि विरला ही मनुष्य ऐसा पैदा होता है, जो गण-धर्म की व्यवस्था करने में समर्थ है और जिसके प्रभाव से कुल का प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने कर्तव्य को समझता और आच, रण करता है ।

गण-स्थविर के अभाव एवं गण-धर्म का पालन न होने के कारण ही आज विधवा-विवाह का प्रश्न उठाया जाता है । विधवा-

विवाह के प्रश्न की उत्पति के कारण बाल और वृद्ध विवाह तो हैं ही, किन्तु इनके साथ-साथ आज विवाहों में होने वाले अन्धाधुन्ध खर्च और धूम-धड़ाके को भी इसका बहुत अधिक श्रेय है। आज कल विवाह ऐसे मंहगे हो रहे हैं कि गरीब का तो विवाह भी होना मुश्किल हो रहा है।

पहले ओसवालों में विवाह कितने रुपयों में हो जाया करते थे।

'सौ दो सौ रुपयों में।'

आजकल दो हजार रुपयों में भी विवाह हो सकता है?'

'इतने रुपयों में तो जाटों के विवाह होते हैं।

जब जाटों के विवाहों में दो दो हजार रुपये खर्च हो जाते हैं तो ओसवाल तो उनसे अधिक धनी हैं, अतः उनके विवाहों में जब तक दो हजार पर एक शून्य और न बढ़ाई जाय तब तक काम कैसे चले? जब विवाह इतने मंहगे हैं तो कुंआरे और शिक्षित लड़के क्या करें! वे भ्रष्ट हुये बिना रहेंगे?

'नही'

जब वे युवक देखते हैं कि निर्धनता के कारण हम विवाह का खर्च नहीं सह सकते, अतः हमें कुंआरी लड़की मिलनी असम्भव है, तब वे चिल्लाते हैं कि ये विधवायें अकारण क्यों बैठी है, इनका विवाह कर डालो। यदि विवाह मंहगे न होते और बाल-वृद्ध-विवाह की कुप्रथा न होती एवं प्रत्येक विवाहेच्छुक युवक का विवाह होना सम्भव होता तो यह प्रश्न ही नहीं उठ सकता था।

धूम-धाम और धन के दुरुपयोग की वृद्धि यहां तक बढ़ी हुई है कि विवाहों में जब तक रण्डी न नाचे तब तक वह विवाह अच्छा ही नहीं समझा जाता। लोग कहते हैं कि रण्डी विवाह में

न नचावें तो फिर क्या मरने पर नचावेंगे ? हजारों रुपये अपने पास से खर्च करके जो लोग वेश्या-नृत्य करवाते और युवकों के हृदय में विलासिता का अंकुर पैदा करते हैं, वे भी इस बढ़ते हुये पाप के लिये जिम्मेदार हैं ।

यदि गण-धर्म का महत्व लोगों को मालूम होता और वे एक गण-स्थविर के प्रबन्ध में काम करते तो यह स्थिति क्यों उत्पन्न होती ।

आज जितने दुःख हैं और जितनी विलासिता बढ़ रही है, इसका एकमात्र कारण अव्यवस्था है । दुःख तो होते हैं अव्यवस्था से और कहते यह हैं कि काल ही ऐसा है या राजा ही खराब है। यहीं तक नहीं लोग यह भी कहने लग जाते हैं कि जो कुछ करता है, वह भगवान ही करता है । मतलब यह है कि अपनी ही अव्यवस्था से होने वाले दुःख को लोग भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न दुःख मानते हैं । किन्तु यदि शास्त्र में बतलाये हुये ढंग से समुचित व्यवस्था प्रचलित होती तो प्रत्येक मनुष्य सुखमय जीवन भी व्यतीत कर सकता और पाप की वृद्धि से भी बच सकता ।

व्यवस्था उसे नहीं कहते हैं कि जिसे सर्वसाधारण सुभीते से न पाल सकें । जैसे कोई कहे कि अन्न न खाकर केवल तपस्या ही करनी चाहिये और अन्य एक मनुष्य कहे कि जो कुछ मिले वह सब खा लेना चाहिये, भक्ष्याभक्ष्य अथवा भूख है या नहीं, इसके देखने की जरूरत नहीं है तो ये दोनों ही बातें अव्यवहारिक हैं । इन दोनों में से किसी एक को पकड़कर, यदि कोई मनुष्य सफलता प्राप्त करना चाहे तो प्राप्त नहीं कर सकता । क्योंकि केवल तपस्या करते रहने से कोई मनुष्य जीवित नहीं रह सकता और जो कुछ भी अगड़म-बगड़म मिले, उसे भूख है या नहीं, इसका ध्यान रखे बिना ही ठूंसे जाने वाला मनुष्य भी सुखी नहीं हो सकता ।

अब एक तीसरा मनुष्य कहे कि अमुक-अमुक चीजें स्वास्थ्य को हानि पहुंचाने वाली हैं, अतः उन्हें छोड़कर अमुक-अमुक लाभदायक पदार्थ खाओ और बीच-बीच में आत्मा को ऊंचा करने तथा स्वास्थ्य रक्षा की दृष्टि से तप का भी आश्रय लो, तो यह व्यवस्था है। जो कार्य उचित है उन्हें करना और अनुचित कार्यों का त्याग करना इसी का नाम व्यवस्था है।

यही बात विवाहों के विषय में भी कही जाती है! जिस विवाह से गण-रूपी शरीर को लाभ पहुंचे, उसे छोड़कर स्वच्छन्दता पूर्वक गण-धर्म विरुद्ध विवाह करना वैसा विवाह गण-धर्म में नहीं गिना जाता जिससे गण-धर्म की क्षति होती हो।

गण-धर्म को दृष्टि में रखकर प्रत्येक स्थविर ऐसी व्यवस्था करता है कि गण में कोई ऐसा कार्य न होने पावे, जिससे कुल की व्यवस्था में बाधा पहुचे। वह ऐसा इन्तजाम करता है कि जाति का प्रत्येक विवाहेच्छुक युवक नीतिपूर्वक विवाहित-जीवन व्यतीत करे। क्योंकि ऐसा न होने की दशा में, गण-धर्म का पालन होना एक प्रकार से असम्भव हो जाता है। गण-धर्म के अभाव तथा गण-स्थविर के न होने के कारण ही आज युवकों के समूह के समूह अविवाहित रहकर दुराचरण करते फिरते हैं और विधवा विवाह का प्रश्न खड़ा करते हैं। यदि गण-धर्म की व्यवस्था हो तो ऐसा होने की जरूरत ही न पड़े।

आज ६०-६० वर्षके बुड्ढे भी, गण-धर्म के अभाव एवं किसी गण-स्थविर का भय न होने के कारण धूम-धड़ाके से अपना विवाह सम्पन्न करवाते हैं। दूसरी तरफ छोटे-छोटे अबोध बच्चे विवाह के बन्धन में आबद्ध कर दिये जाते हैं। ये दो बड़े-बड़े कारण विधवाओं की वृद्धि के हैं। इन विधवाओं में भी कई एक बहुत छोटी उम्र की (जिन्हें यह भी ज्ञान नहीं है कि हम कौन हैं और विधवा किसे

कहते हैं) सुनी गई हैं । इस छोटी आयु में उन्हें विधवा बनाने का कारण, गण-स्थविर की संरक्षा का अभाव है ।

यदि गण-स्थविर होते तो वे इन सब कुचालों को रोककर ऐसी पद्धति का निर्माण करते कि जिससे गण की उन्नति होती और उसके युवक सदाचारी निकलते ।

आज बरात जोड़ देने और खिचड़ी खाने के लिये तो स्थविर बनकर लोग तैयार हो जाते हैं किन्तु विवाह न्याययुक्त है या नहीं, यह देखने वाले बहुत कम हैं । प्रीतिभोज पहले भी होता था किन्तु वह प्रीति वृद्धि के लिये । जबरदस्ती अड़ङ्गा लगाकर उन दिनों लोग भोजन नहीं किया करते थे । आज जो जाति-भोज कहा जाता है, वह कई जगह तो मानो उससे जाति का दण्ड वसूल किया जाता है और खा-पीकर लोग अपने-अपने रास्ते चले जाते हैं । पीछे से उसकी क्या दुर्दशा होगी, इसका ध्यान भी नहीं रखते ।

ये सारी व्यवस्थायें गण-स्थविर के अभाव से नष्ट हुई देखी जाती हैं । यदि स्थविर होते तो ऐसी स्थिति उत्पन्न न होने पाती और वे ऐसी व्यवस्था करते कि गण नीचा गिरने की अपेक्षा उन्नति की ओर अग्रसर होता । वर्तमान में कई जगह तो पंच-सिस्टम उठ गया है और कई जगह कायम है पर पंच लोगों का प्रभाव अपना कर्तव्य अदा न करने से जाति पर नहीं रहा । उनका होना भी बेकार है ।

गण-स्थविर, गण की व्यवस्था ही करे यह बात नहीं है । बल्कि व्यवस्था को भंग करने वाले मनुष्य को, दण्ड देने का अधिकार भी गण-स्थविर को होता था । क्योंकि इसके बिना गण का काम अच्छी तरह चलना कठिन था । इतिहास से प्रकट है कि गण की व्यवस्था को प्राण-दण्ड भी दिया गया है ।

आज ओसवालों में यदि कोई मनुष्य अनुचित काम करे तो

उसे दण्ड कौन देता है ?

'कोई नहीं।'

अर्थात्—कोई कुछ भी करे परन्तु कोई दण्ड नहीं देता। इसी का परिणाम यह है कि आज समाज के टुकड़े-टुकड़े हो रहे हैं और ऐसी दुर्व्यवस्था फैल रही है कि ६०-६० वर्ष के बूढ़े भी विवाह कर लेते हैं तथा अनेक दुराचार फैल रहे हैं। जब तक जाति में सच्चा स्थविर नहीं होता या वे अपना कार्य नहीं करते तब तक गण-धर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती यह बात निर्विवाद है।

परिवर्तन करने वाले का, बुद्धिमान होना आवश्यक है। कहीं उल्टा परिवर्तन कर दिया तो व्यवस्था होना तो दूर रहा उल्टी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायगी। इसलिये जो बुद्धिमान स्थविर हैं, वे बड़ी बुद्धिमानी से देश-काल और शास्त्र को देख, निष्पक्ष-दृष्टि रखकर परिवर्तन करते हैं, जिससे वह परिवर्तन निश्चित ही सुख-दाता होता है।

गण-धर्म के नियमों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने के अतिरिक्त गण-स्थविर का यह भी कर्तव्य होता है कि वह गण के हानि-लाभ को सदैव अपनी दृष्टि में रखे। जो स्थविर गण-धर्म का समुचित पालन करवावे तथा उस संगठित शक्ति को आवश्यकतानुसार अंगुली-निर्देश-मात्र से कठिन-से-कठिन कार्य में लगा सके वही सच्चा गण-स्थविर कहा जाता है। इस विषय में महाराज चेटक की गण-व्यवस्था शास्त्रों में और इतिहास में वर्णन की गई है। इनकी अध्यक्षता में गण-व्यवस्था सुचारु रूप में होती थी।

गणधर्म भी लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार का है। लौकिक-गण-धर्म आज लौकिक जाति-व्यवस्था है और लोकोत्तर गण-धर्म सम्प्रदाय है। सम्प्रदाय की व्यवस्था करने वाले गण-स्थविर हैं, जिनको गण की उपाधि शास्त्रकार ने दी है।

७ : संघ-स्थविर

कई कुल के संगठित होने पर गण और कई गणों के संगठित हो जाने पर संघ बनता है।

संघ दो प्रकार के होते हैं; एक लौकिक संघ दूसरा लोकोत्तर संघ। इन दोनों की व्यवस्था करने के लिये स्थविर भी दो ही प्रकार के होते हैं। एक लौकिक-संघ-स्थविर, दूसरा लोकोत्तर संघ-स्थविर।

लौकिक-संघ-स्थविर, लौकिक-संघ की व्यवस्था करता है। देशकाल के अनुसार सघ के नियमों में परिवर्तन या नये नियमों की रचना करके, सघ को कल्याण की ओर ले जाना संघ स्थविर का प्रथम कर्तव्य माना जाता है। बड़ा प्रभावशाली और दूर-दृष्टा मनुष्य ही संघ-स्थविर हो सकता है। क्योंकि यदि स्थविर बुद्धिमान न हुआ तो वह संघ को ऐसी दिशा में भी ले जा सकता है, जिससे संघ की बड़ी क्षति होने की सम्भावना रहती है। अतः इतनी बड़ी संगठित शक्ति की रक्षा के लिये बड़े बुद्धिमान मनुष्य की आवश्यकता रहती है।

संघ-स्थविर का पद उतने ही महत्व का है जितना कि एक सेनापति का। यदि सेनापति बुद्धिमान न हुआ तो सारी सेना को नष्ट कर देगा। इसी प्रकार यदि संघ-स्थविर बुद्धिमान न हुआ तो सारे संघ को क्षति पहुंचावेगा। अतः संघ-स्थविर का कार्य वही मनुष्य कर सकता है, जो बुद्धिमान दूर-दृष्टा निस्वार्थी और प्रभावशाली हो।

अब लोकोत्तर-संघ-स्थविर के विषय में कुछ कहते हैं।

लोकोत्तर-संघ-स्थविर, लोकोत्तर-संघ की व्यवस्था करता है। लोकोत्तर-संघ में साधु-साध्वी और श्राविका-श्राविका हैं। इनकी

धार्मिक व्यवस्था करने वाले आचार्यादि अग्रणी मुनिराजों को लोकोत्तर-संघ-स्थविर कहते हैं।

लोकोत्तर-संघ-स्थविर इस बात की व्यवस्था करता है कि संघ में किसी प्रकार का विग्रह न फैल जाय। यदि दैवयोग से किसी प्रकार का मनोमालिन्य साधुओं में या संघ में परस्पर दिखाई दे तो संघ-स्थविर उसे शीघ्र ही दूर करने की चेष्टा करता है।

जिस प्रकार लौकिक-संघ-स्थविर को संघ में विग्रह डालने या उत्पात करने वाले को दण्ड देने का अधिकार है, उसी प्रकार लोकोत्तर-संघ-स्थविर भी संघ के किसी साधु के नियम भंग करने पर उसे दण्ड दे सकता है।

सारांश यह कि जो लोकोत्तर-संघ की समुचित व्यवस्था करे, संघ के प्रत्येक साधु के चारित्रादि सद्गुणों पर कड़ी दृष्टि रखे और उन्हें अपनी आज्ञा में चलावे तथा आज्ञा भंग करने पर समुचित दंड दे वही लोकोत्तर-संघ-स्थविर है।

लोकोत्तर-संघ-व्यवस्था सुचारु रूप से तभी रह सकती है जब संघ आचार्य महाराज की आज्ञा का समुचित रूपेण पालन करे। जब तक यह व्यवस्था नहीं सुधरे और प्रत्येक अपनी इच्छानुसार वर्ते। ऐसी स्थिति में आचार्य (संघ-स्थविर) क्या करे ? वे संघ के नियमों का भंग करने वालों को दण्ड देवे लेकिन संघ के कुछ लोग उनका पक्ष लेकर आचार्य की आज्ञा की उपेक्षा करे तब संघ-धर्म खतरे में आ पड़ता है। अतः संघ-स्थविर को बहुत बुद्धिमता से कार्य करना पड़ता है। इसी तरह संघ को भी आचार्य की आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिये।

८ : जाति-स्थविर ।

जिस मनुष्य की अवस्था ६० वर्ष की हो गई हो, उसे अवस्था का स्थविर अथवा जाति–स्थविर कहते हैं ।

जिन वृद्ध मनुष्यों का अनुभव वढ़ा हुआ हो, और जिनकी वुद्धि परिपक्व हो गई हो, उनकी उचित शिक्षा मानने में ही जाति का कल्याण है । क्योंकि, ऐसे वृद्धों के हृदय में उत्तेजना नहीं रहा करती, इससे वे प्रत्येक वात को खूव सोच-समझ कर ही कहते हैं ।

प्रत्येक जाति में, ऐसे वृद्ध-स्थविरों की वड़ी आवश्यकता मानी जाती है । क्योंकि, युवक स्वभाव से ही प्रायः जोशीले होते हैं अतः यदि उन पर किसी का अँकुश न हो तो वड़े–वड़े अनर्थ हो जाने की आशंका रहती है ।

कहावत मशहूर है कि 'नादान दोस्त से दाना दुश्मन अच्छा ।' इसका मतलव यह है, कि दाना मनुष्य, चाहे दुश्मन ही हो, किन्तु वह शीघ्र ही किसी का अकल्याण करने को तैयार नहीं होता और नादान चाहे दोस्त ही हो, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर वही दोस्त नाराज होकर पूरे दुश्मन का काम कर वैठता है । इसीलिए शास्त्र-कारों ने, ६० वर्ष के वुद्धिमान और अनुभवी वूढ़े को जाति-स्थविर कहा है । आज जाति-स्थविरों (वृद्धों) का समुचित सन्मान न होने से, जातियों में कैसी दुर्व्यवस्था फैल रही है, यह वात प्रत्येक मनुष्य जानता है । यदि शास्त्र में वर्णित ढंग से व्यवस्था हो, तो आज भी जाति का पतन रुक सकता है ।

आज, जवान तो जवान ही हैं; किन्तु अधिकांश वूढ़ों की यह दशा है, कि वे युवकों की अपेक्षा अधिक अविचारी और उच्छृं-खल देखे जाते हैं । रूढ़ियों के गुलाम, आज जितने ६०–६० वर्ष के स्थविर बनने योग्य वूढ़े मिलेंगे, उतने युवक नहीं मिलेंगे । गुलाम हैं, या सब युवक उन्नत विचार रखने वाले हैं । किन्तु वृद्धों की

विशेष रूढ़ि-प्रियता, जाति के कल्याण की बाधक है।

आज युवक-समाज, आदर्श-हीन होकर, इधर-उधर ठोकरें खाता-फिरता है। क्योंकि, जाति में प्रभावशाली स्थविरों की बड़ी कमी है। जो बूढ़े हैं, वे आज की परिस्थिति को देखते हुए किसी योग्य नहीं प्रतीत होते। यह भारी दुर्व्यवस्था है। जब तक यह दुर्व्यवस्था दूर न हो और स्थविर लोग आदर्श बन कर युवकों को न दिखा दें, तब तक जाति के कल्याण की आशा दुराशा-मात्र है।

जिस तरह लौकिक जाति स्थविर, ६० वर्ष का वृद्ध ही माना जाता है, उसी प्रकार लोकोत्तर-जाति में भी जो साधु ६० वर्ष की आयु का हो चुका है, वह लोकोत्तर-जाति-स्थविर कहा जाता है। उसका उचित सन्मान करना और उसकी परिपक्व-बुद्धि का निश्चित किये हुए ढंग से व्यवहार करना, साधुओं का कर्तव्य है। परन्तु जो केवल वय का स्थविर हो और बुद्धि-वैभव से हीन हो, कृत्या-कृत्य का जिसे विशेष भान न हो, एवं देशकाल और शास्त्र से अन-भिज्ञ रह कर, केवल भद्दी बातों की जिद रखता हो, वह स्थविर कहलाने के लायक नहीं है।

नोट—इस प्रकरण में जाति-स्थविर की व्याख्या करते हुए जाति का अर्थ जाति-बिरादरी लिया गया है किन्तु श्री स्थानांग-सूत्र में जाति-स्थविर का आशय परिपक्व उम्र से अर्थात् ६० वर्ष की आयु वाले से है, वे मनुष्य जाति-समाज-संघ सब में उप-योगी हो सकते हैं।

९ : सूत्र—स्थविर

सूत्र—धर्म के पालन की समुचित व्यवस्था करने वाले को सूत्र—स्थविर कहते हैं।

जिन मुनिराज को, ठाणांग—सूत्र और समवायांग-सूत्र आदि

की बारीक से बारीक बातों का ज्ञान हो, तथा जो सूत्र—धर्म के पालन की समुचित व्यवस्था करते हों, उन्हें सूत्र—स्थविर कहते हैं।

सूत्र—स्थविर, इस बात का ध्यान रखता है, कि कौन व्यक्ति सूत्र—धर्म का समुचित पालन करता है और कौन नहीं। जिस मनुष्य को सूत्र-स्थविर देखता है, कि वह सूत्र—धर्म के पालन में कुछ शिथिलता करता है उसे उपदेश देकर धर्म में दृढ़ करता है।

सूत्र—स्थविर का यह कर्तव्य है, कि यदि कोई जिज्ञासु श्रावक, सूत्र—धर्म में निर्णयात्मक दृष्टि से किसी प्रकार की शंका करे, तो वह उसकी शंका का समुचित-समाधान करें, और शास्त्र—पाठ से उसे अपना कर्तव्य बतलावे।

संघ—धर्म की व्याख्या करते हुए कहा गया है, कि साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका ऐसा चतुर्विध-संघ है। ये दोनों परस्पर आश्रित भाव से हैं। यानि साधु, श्रावक के और श्रावक, साधु के आश्रित हैं। ऐसी दशा में इन दोनों का परस्पर सहयोग होना अत्यावश्यक है। श्रावक, धर्म जिज्ञासा की तृप्ति के लिये साधुओं के आश्रित हैं, अतः उन्हें जो-जो शंकायें हों, उनका निवारण करना सूत्र-स्थविर अर्थात् शास्त्र के मर्मज्ञ साधु का कर्तव्य है।

आजकल कुछ गृहस्थों की धर्म के प्रति ऐसी उदासीनता देखी जाती है, कि वे अज्ञान में पड़े रहते हैं, किन्तु सूत्र-स्थविर से ज्ञान प्राप्त नहीं करते। यह स्थिति श्लाघ्य नहीं कही जा सकती। ऐसी स्थिति वाले मनुष्य, सूत्र धर्म की क्षति तो करते ही हैं, किन्तु साथ ही अपनी भी कोई कम क्षति नहीं करते। जब तक, सूत्र-धर्म के पालन की समुचित व्यवस्था न हो और लोगों की इस ओर रुचि न हो, तब तक सूत्र—धर्म के विस्तार की आशा कैसे की जा सकती है?

१० : पर्याय-स्थविर

जिस मुनि ने, २० साल तक संयम पाला हो और शास्त्रों का खूब अध्ययन किया हो उसे पर्याय-स्थविर कहते हैं। जिसका प्रचलित नाम दीक्षा स्थविर है।

पर्याय-स्थविर, में इतना ज्ञान पैदा हो जाता है, कि बिना शास्त्र देखे ही वह शास्त्र की बात कह सकता है, उसे क्षण-क्षण पर शास्त्र देखने की आवश्यकता नहीं रह जाती और वह कोई ऐसी बात नहीं कह सकता, जो शास्त्रीय नियमों से विरुद्ध हो।

पर्याय-स्थविर, एक प्रकार का स-शरीर शास्त्र ही होता है। अर्थात्–शास्त्र में कथित ज्ञान तो उसके मस्तक में रहता है और आचरण उसके आचरणों में। ऐसे पर्याय-स्थविर के कहे हुए सिद्धान्त, अनुभव-युक्त होने से, प्रायः सत्य ही होते हैं।

पर्याय-स्थविर बनने का सौभाग्य, बहुत कम मुनियों को प्राप्त होता है। जो साधु सच्चे दिल से शास्त्राध्ययन करता है, और प्रत्येक नियमोपनियम का पूर्ण रूपेण पालन करता है, वही आगे चल कर पर्याय-स्थविर हो सकता है। कितनेक वीस से अधिण वर्षों की दीक्षा वाले होजाने पर भी जिनकी आत्मा संयम में दृढ़ नहीं हुई, इन्द्रियों के विपय जीते नहीं, पूरा ज्ञानाभ्यास किया नहीं, बात में छलक उठते हैं, जरा भी गम्भीरता आई नहीं वे पर्याय-स्थविर के योग्य नहीं। पर्याय-स्थविर वही हो सकते हैं जो संयम में दत्तचित्त एवं जिनकी इन्द्रियां वशीभूत हों तथा ज्ञानादि द्वारा जिनकी आत्मा स्थिर हो गई हो।

परिशिष्ट

प्रशास्ता-स्थविर के द्वारा कैसी शिक्षा दी जानी चाहिये, इस बाबत धर्म और धर्म नायक, गुजराती पुस्तक में जो रूपरेखा खींची

गई है उसीके आधार से यहाँ बताई जाती है ।

(१) शिक्षा का विभाजन योग्यतानुसार करना चाहिये । शिक्षा का विपर्यास न हो जाय इस बात का ध्यान रखना प्रशास्ता स्थविर का मुख्य कर्तव्य है । बालकों को बालोपयोगी, कुमारों को कुमारोपयोगी, किशोरों को किशोरोपयोगी, युवाओं को युवाउपयोगी, प्रौढों को प्रौढोपयोगी और वृद्धों को वृद्धोपयोगी । इस तरह बालाओं कन्याओं, युवतियों, प्रोढाओं तथा वृद्धाओं को उन–उनके उपयोगी शिक्षा–दीक्षा देना, शिक्षा की साधन सामग्री का जुटा देना और शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर देना चाहिये । यदि ऐसा न किया जाय तो उसका परिणाम सुन्दर आने के बदले अनिष्ट आने की सम्भावना है । अतः योग्यतानुसार विभाजन किया जाय ।

(२) छोटे–छोटे बच्चों को मानसिक एवं धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक है उसी तरह उनको शारीरिक, वाचिक एवं औद्योगिक शिक्षा देना भी अत्यावश्यक है । प्रशास्ता स्थविर को इस तरफ भी लक्ष्य देना चाहिये ।

(३) जिनकी मगज शक्ति कुछ विकसित होने लगी है, ऐसे कुमार तथा कुमारिकाओं को बौद्धिक शिक्षा के साथ ही साथ औद्योगिक शिक्षा देने का भी प्रबन्ध करना चाहिये क्योंकि बौद्धिक शिक्षा के साथ ही साथ औद्योगिक शिक्षा का जब सुयोग होगा तभी शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य सफल होगा । पूर्व काल की शिक्षा का वर्णन जैन साहित्य में किया गया है वहां शिक्षा अथवा कला का शिक्षण सूत्र रूप से, अर्थ रूप से तथा कार्य रूप से यानी प्रयोग कराके शिक्षा दी जाती थी, केवल बौद्धिक शिक्षा देने से वह एकांगी ही रहेगी । शिक्षा सर्वांग सम्पूर्ण होनी चाहिये ।

(४) शिक्षा स्थविरों को चाहिये कि व्यावहारिक शिक्षा के

साथ ही साथ आध्यात्मिक यानी धार्मिक शिक्षा का भी प्रबन्ध करे। कारण व्यावहारिक कार्यों से श्रमिक जीवन को शांति देने की खास आवश्यकता है और वह आत्मिक शान्ति धार्मिक शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है अतः बालक-बालिकाओं में बचपन से ही धार्मिक संस्कार डालने चाहिये।

(५) शिक्षा-दीक्षा मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है और आवश्यक है अतः शिक्षा-दीक्षा देने से कदाचित जाति भेद, वर्ण भेद आदि सामाजिक बाधा उपस्थित होती हो तो उसे दूर करके प्रत्येक बालक-बालिका को शिक्षा मिल सके वैसी समुचित व्यवस्था करनी चाहिये।

(६) शिक्षा रूप दीक्षा देने में भय, तर्जन या मार कूट का प्रयोग कम करना चाहिये। कारण भयभीत बालक शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये छोटे-छोटे बालक-बालिकाओं को प्रेम पूर्वक ही शिक्षा दी जानी चाहिये।

(७) शिक्षा की दीक्षा ग्रहण करते हुए बालकों को कामोद्दीपन करने वाले साधनों से बचाकर रखने चाहिये अर्थात् वे निर्विकर एवं सब तरह के बुरे व्यसनों से बच कर रहे वैसा उचित प्रबन्ध करना चाहिये। वर्तमान समय में प्रशास्ता स्थविरों, शिक्षा-प्रोफ़ेसरों का इस तरफ विशेष लक्ष्य न होने से, करड़ी देखरेख न रहने के कारण किशोरावस्था में पहुंचते-पहुंचते अनेक दुर्व्यसनों तथा एबों को स्कूल की शिक्षा के साथ ही साथ सीख लेते हैं और उनके जीवन पतित बन जाते हैं और शिक्षा पूर्ण न करते हुए बीच में ही छोड़ भागते हैं या वे दुर्व्यसन जीवन को निरुपयोगी बना देते हैं अतः शिक्षा के साथ बीड़ी-सिगरेट का धूम्रपान न करे। अपने देश के विरुद्ध पोशाक धारण न करे, नशादि का उपयोग न करे इस बात की बार-बार जांच होती रहनी चाहिए।

(८) बालक–बालिकाओं को पढ़ने में, समझने में, याद करने में, सरल एवं बोधप्रद हो ऐसे पुस्तक राष्ट्र भाषा में तैयार कराने और उनके द्वारा शिक्षा देने का प्रबन्ध करना चाहिये, जिससे स्वल्प समय में ही वे विशेष शिक्षा प्राप्त कर सकें।

(९) जिस शिक्षा से विद्यार्थी का मगज खराब हो जाय और उसे तद्विषयक ज्ञान न हो वैसी शिक्षा न दी जाय, किन्तु विद्यार्थी की तर्क शक्ति एवं अवलोकन शक्तिवर्धक हो वैसी शिक्षा दी जाय।

(१०) विद्यार्थियों को अपने राष्ट्र, राष्ट्र धर्म, तथा राष्ट्र-नेताओं के प्रति आदर बुद्धि जगे, अपनी मातृभूमि, अपनी समाज तथा अपने धर्म की तरफ उनका क्या कर्तव्य है वह समझे तथा राष्ट्र–समाज और धर्म की रक्षा एवं सेवा के लिए उसे कितनी सहिष्णुता, कितना त्याग करना चाहिये इसका ज्ञान भी अवश्य ही देने का प्रबन्ध किया जावे।

(११) विद्यार्थी की किस विषय में विशेष रुचि है, उसका मानसिक चलन किस तरफ अधिक ढ़लता है उसकी जांच करके उस विषय में पारंगत और शेष विषयों में भी रस लेने वाला बनाना चाहिये।

इस प्रकार की योजना से विद्यार्थी का जीवन व्यवहार सुन्दर रूप से चल सकेगा। संक्षेप में बालक–बालिकाओं को शिक्षा कैसी, कब और किस प्रकार दी जानी चाहिये तथा कैसी योग्यता वाले शिक्षक होने चाहिए इन सब बातों का पूर्वापर विचार प्रशास्ता स्थविर को करना चाहिये।